इतिहास का सबक़

मौलाना वहीदुद्दीन खान

इतिहास का सबक़

मौलाना वहीदुद्दीन ख़ां

Itihas Ka Sabaq
by Maulana Wahiduddin Khan

First published 1994
Reprinted 2001

Distributed by
AL-RISALA BOOKS
1, Nizamuddin West Market
New Delhi 110 013
Tel. 435 5454, 435 6666, 435 1128
Fax 435 7333, 435 7980
E-mail: skhan@vsnl.com
Website: www.alrisala.org

अनुक्रम

बिस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम

उत्थान और पतन के ऐतिहासिक क़ानून को कुरआन में इस तरह ब्यान किया गया है: अल्लाह किसी गिरोह की 'स्थिति' उस वक़्त तक नहीं बदलता जब तक वह अपनी मनोवृत्ति न बदले 'अन्फ़ाल-५३, रा'द-११'.

इन आयतों में मनोवृत्ति में तब्दीली से मुराद वह परिवर्तन है, जो व्यक्तिगत सतह पर होती है. क्योंकि वृत्ति व्यक्तिगत सतह पर ही पायी जाती है, न कि सामूहिक स्तर पर. मतलब यह है कि कौमों का पतन उस वक़्त होता है, जबकि व्यक्ति-व्यक्ति के धरातल पर उनमें जीवन्तता पैदा हो जाए. इस सुन्नते इलाही के मुताबिक़ कौम के सुधार का तरीक़ा यह है कि उस व्यक्ति में सुधार से शुरू किया जाये न कि हुकूमत में इंकलाब से. हुकुमत में इंकलाब के नारे से काम को शुरू करने का मतलब है स्थिति को स्थिति से बदलना. ज़ाहिर है कि इस प्रकार की कोशिश एक ऐसी दुनिया में नतीजाख़ेज़ नहीं हो सकती, जिसमें पैदा करने वाले ने उसकी स्थिति की तब्दीली को उसकी मनोवृत्ति की तब्दीली से जोड़ दिया हो. यह बाग़ को बीज से ही निकाला जा सकता है.

'इतिहास का सबसे बड़ा सबक़ यह है कि किसी ने इतिहास से सबक़ नहीं सीखा' - यह सुक्ति जिस तरह दूसरे समुदायों के लिये सही है ठीक उसी तरह वह हमारे ऊपर भी सादिक़ आता है. हमारा लंबा इतिहास हर तरह की शिक्षाप्रद घटनाओं से भरा हुआ है. मगर हममें से कोई व्यक्ति जब काम करने के लिये उठता है, तो वह इतिहास के क़ानून को जानते हुए अपने आप को चेतन या अचेतन रूप से उससे अलग कर लेता है. वह जानता है कि जो कुछ हुआ वह सिर्फ़ दूसरों के लिये था, हमारे साथ ऐसा नहीं होगा.

इतिहास निरंतर यह सबक़ देता रहा है कि कोई समुदाय या कौम उस वक़्त तक तरक्क़ी नहीं कर सकता जब तक कि उसके लोगों में आचरण और चरित्र की शक्ति न पैदा हो जाये. मगर हमारा हाल यह है कि हम व्यक्ति में चरित्र पैदा किये बिना उत्थान की तरफ़ छलांग लगा देते हैं. तमाम इतिहासों का फ़ैसला है कि कौमों या समुदायों के उत्थान का राज़ प्रारंभिक सतह पर निर्माण और स्थिरता है. मगर लोग अवसर मिलते ही राजनीतिक संस्थाओं से मुक़ाबला शुरू कर देते हैं. इतिहास बताता है कि व्यक्ति-समुदाय के भीतर आपसी एकता, चाहे जिस क़ीमत पर हो बहाल रखना ज़रूरी है. मगर मामूली बातों पर लोग एक दूसरे के खिलाफ़ मोर्चाबंदी शुरू कर देते हैं. इतिहास बताता है कि व्यक्ति-समुदाय के भीतर आपसी एकता, चाहे जिस क़ीमत पर हो बहाल रखना ज़रूरी है. मगर हमारे रहनुमा बेदर्दी के साथ कौम को हंगामों में मशगूल कर देते हैं. मिल्लत को उठाने की योजना तभी कामयाब हो सकती है जब मिल्लत का व्यक्ति ऊपर उठाया जा

चुका हो. मिल्लत की तरक़्क़ी के लिये ऐसे लोग दरकार हैं, जो बोलने से ज़्यादा चुप रहना जानते हों, जो शब्दों से ज़्यादा अर्थ की भाषा समझते हों. जो शक्ति से ज़्यादा तर्क और दलील के आगे झुकने वाले हों. जो कहने से ज़्यादा करना जानते हों. जो आगे बढ़ने से ज़्यादा पीछे हटने के बहादुर हों. संक्षेप में यह कि जो दुनिया से ज़्यादा आख़िरत को देख रहे हों. ऐसे लोगों के बिना मिल्लत की सिरबुलंदी का नारा लगाना ऐसा ही है, जैसे दलदल के ऊपर दीवार खड़ी करना.

खुदा का कलिमा उनके हक़ में पूरा होकर रहा

हज़रत मूसा अलैहिस्सलाम (१४००-१५२० ई० पूर्व) की आमद से साढ़े तीन हजार बरस पहले यह घटना हुई कि फ़िलिस्तीन और शाम के इलाक़े के स्थानीय सत्ताधारियों के कुछ 'अरब' जिनको 'अमालीक' कहा जाता था, मिस्र में दाखिल हुए, और वहां क़ाबिज़ हो गये. हज़रत यूसुफ़ अलैहिस्सलाम (१७९६-१९०६ ई० पूर्व) जब नौजवानी की उम्र में मिस्र पहुंचे तो उस वक़्त मिस्र पर उनके इन्हीं हम क़ौमों की हुकूमत थी. एक महिला द्वारा पैदा की गयी कुछ प्रारंभिक मुश्किलों के बाद आपको मिस्र में बहुत लोकप्रियता मिली. आप एक शानदार व्यक्तित्त्व के मालिक थे और आपके अन्दर असाधारण प्रशासनिक और प्रबंध क्षमता थी. मिस्री हुकमरानों को नस्लवादी निकटता के कारण आपकी क्षमता को स्वीकारने में कोई रुकावट नहीं हुई. आपके ज़माने में अरब बादशाह अपोफेस ने आपके दीन 'धर्मास्था' को न स्वीकारते हुए भी तमाम कारोबार आपके सुपुर्द कर दिया. इसके बाद हज़रत युसुफ ने अपने पिता हज़रत याकूब (इस्राईल) और अन्य परिवार वालों को मिस्र बुला लिया. यह लोग तक़रीबन चार सौ साल तक मिस्र की हुकूमत पर छाये रहे. मिस्र के संवैधानिक हुकमरान हालांकि अब भी मुश्रिक अंमालीक (अरब निवासी काफिर) थे मगर हुकूमत पर व्यवहारिक क़ब्ज़ा इस्राईल की संतान का था.

इस्राईली सन्तान जब शुरू में मिस्र आये, तो उन्हें यहाँ की बहुत ही उपजाऊ ज़मीनों पर बसाया गया और सत्ता के महत्वपूर्ण पद उनके लिये ख़ास रहे. मगर यह बहुसंख्यक पर अल्पसंखकों की हुकूमत थी. बाइबल के बयान के मुताबिक़ याकूब का घराना 'इस्राइल' जब मिस्र स्थानांतरित हुआ, तो उनकी संख्या हज़रत युसुफ़ को मिला कर ६८ थी. नस्ल बढ़ती रही और इसी माध्यम से 'प्राचीन मुसलमानों' की संख्या में वृद्धि होती रही. यहाँ तक कि पांच सौ वर्ष बाद जब हज़रत मूसा ने जनगणना कराई तो सिर्फ़ उनके पुरुषों की संख्या छह लाख से ज़्यादा हो चुकी थी. हालांकि उस ज़माने की मिस्री आबादी की संख्या ठीक मालूम नहीं लेकिन एक अंदाजे के मुताबिक़ उनकी संख्या इस्राईली सन्तानों का दस प्रतिशत थी.

हज़रत यूसुफ़ ने ११० वर्ष की उम्र पाई. आपके तीन-चार सौ साल बाद

मिस्र में अरब हुकमरानों के खिलाफ़ प्रतिक्रिया हुई. लंबे खून-ख़राबे के बाद अंततः स्थानीय मिस्री जनता की सरकार बनी और बाहरी हुकमरानों को सत्ता से बेदख़ल कर दिया गया. जनता की नयी सरकार मिस्र के एक 'क़बती' ख़ानदान के क़ब्जे में थी जिसके हुकमरानों ने 'फ़िरऔन' का उपनाम अख़्तियार किया.

क़बती हुकूमत की स्थापना के बाद हालांकि ढाई लाख अरब निवासियों को मिस्र से निकाल दिया गया था, फिर भी इस्राइली संतान अब भी वहां रखे गये ताकि नये हुकमरानों के लिए बेगार का काम कर सकें. 'बाइबल' के शब्दों में: 'मिस्रियों ने ख़िदमत करने वालों में इस्राईलियों पर सख़्ती की और उनसे गारा-ईट का काम और खेती करवा के उनकी ज़िन्दगी तल्ख़ की. उनकी सारी सेवा जो वे करते थे बड़ी मशक़्क़त की थी: – 'खरुज अलिफ: १३-१४'

हज़रत मूसा तशरीफ लाए तो इस्राइली उस समय उसी मशक़्क़त के दौर से गुज़र रहे थे. आपने क़बती फ़िरऔनी सभ्यता के मुक़ाबले में वर्चस्व प्राप्त करने के बजाये खुद उनपर क़दम उठाने का तरीक़ा अपनाया. आपने खुदावंद के 'दीन' धर्म अपनाने की दावत देनी शुरू की – 'तुम सब खुदावंद का दीन अपनाओ वर्ना तुम सबके सब तबाह कर दिये जाओगे.' यह चीज़ फ़िरऔन के गुस्से में सिर्फ़ वृद्धि कर सकती थी. इसी लिये इस्राईलियों के लिये आपके आने के बाद की ज़िन्दगी और तल्ख़ हो गयी. फ़िरऔन का गुस्सा इतना बढ़ा कि शाही हुक्म के अनुसार मिस्र में इस्राईलियों के यहां पैदा होने वाले बेटों को क़त्ल किया जाने लगा, ताकि मिस्र से धीरे-धीरे उनकी नस्ल ही ख़त्म हो जाये. प्राचीन मिस्री पुरातत्व खुदाई के दौरान १८९६ में एक शिलालेख मिला है, जिसमें हजरत मूसा के जमाने का फिरऔन की विजयी गर्वोक्ति है – 'और इस्राईल को मिटा दिया गया, उसका बीज तक बाक़ी नहीं.' उस वक़्त इस्राईलियों ने हज़रत मूसा से शिकायत की – 'आपके आने से पहले भी हम सताये जा रहे थे और अब आपके आने के बाद भी सताये जा रहे हैं' – 'आ'राफ़ -२७'.

इस इंतहाई नाजुक स्थिति में इस्राइलियों को जो जवाब दिया गया, वह कुरआन के शब्दों में यह है: – 'और हमने मूसा और उसके भाई की मदद की, कि तुम दोनों अपनी क़ौम को मिस्र में ठहराओ और अपने घरों को 'कार्यालय' बना लो और नमाज़ क़ायम करो और मोमिनीन को भविष्यवाणी कर दो – 'सूरः यूनुस - ८७'.

इस आयत में जो कार्यक्रम दिया गया है उसको निम्नलिखित अंदाज़ में बयान किया जा सकता है.

१. जहां हो, वहां जमे रहो. अपने अन्दर भय और बिखराव को जगह मत दो. यह वही चीज़ है, जिसे हज़रत मसीह 'ईसा' ने इन शब्दों में कहा था: 'जब

तक सर्वोच्च दुनिया से तुम्हें शक्ति का लिबास न मिले इस शहर में ठहरे रहो. 'सूरः लौक़ा २४:४७'.

२. अपने घर को अपनी गतिविधियों का केंद्र बना लो, यानी आपसी संगठन, अंदुरुनी स्थिरता, आपस की सब्र-ओ-नसीहत और व्यक्तिगत माध्यमों पर निर्भरता. यह वह चीज़ें हैं, जिनपर तुम्हें मौजूदा स्थिति में अपना ध्यान केंद्रित रखना चाहिये.

३. नमाज़ क़ायम करो – यानी अल्लाह से अपने संबंध मज़बूत करो, उसकी याद, उससे मांगना, उसके आगे अपने आप को बिल्कुल झुका देना 'आदि' इन विशेषताओं को ज़्यादा अपने अन्दर पैदा करो.

४. यही वह क्रिया पद्वति है जिसमें तुम्हारे लिये दुनिया व आख़िरत की तमाम खुश ख़बरियो छिपी हुई हैं. पूरी ध्यान केन्द्रियता के साथ इनको पूरा करने में लग जाओ. इस तीन सूत्रीय कार्यक्रम को संक्षिप्त रूप से इस तरह कहा जा सकता है – दृढ़ता, आंतरिक निर्माण, अल्लाह से संबंध. इस कार्यक्रम पर क्रियाशील रहने का नतीजा जो निकला वह कुरआन के शब्दों में यह है: 'और जो लोग कमज़ोर कर दिये गये थे, हमने उनको ज़मीन के पूरब-पश्चिम का बना दिया, जिसमें हमने बरकत दी है. और तुम्हारे रब का बेहतरीन कलिमा इस्राईली संतानों के लिये पूरा होकर रहा. और हमने फ़िरऔन और उसकी क़ौम को उसके उद्योगों और उसके खेत खलिहानों के साथ मिटा कर रख दिया. – 'सूरः आ'राफ़ – १३७'.

प्रतिकूल स्थितियों में अनुकूल संभावनाए

तत्व जब 'बर्बाद किया जाता है, तो वह ऊर्जा बन जाती है, जो तत्वों की व्यापक और शक्तिशाली शक्ल है. यही खुदा की इस कायनात का आम क़ानून है. यहां हर महरूमी के अन्दर हमेशा एक नयी 'क्रिया' की संभावना छिपी रहती है. अल्लाह तआला की यह ख़ास विशेषता, जिसकी अभिव्यक्ति भौतिक रूप में हुई, उसका वायदा ज़्यादा बड़े पैमाने पर अहले ईमान के लिये किया गया है. उनके लिये उनका 'रब' प्रतिकूल स्थितियों में भी अनुकूल पहलू पैदा कर देता है, बशर्ते कि वे वास्तव में खुदा के हो चुके हों. उनकी योजनाबंदी ख़ालिस खुदाई मिशन के लिये हो न कि आपको ज़ाहिर या अभिव्यक्त करने के लिये.

मक्का में जब मुसलमानों के हालात सख़्त हो गये तो रसूलुल्लाह सल्लल्लाहो

अलैहि वसल्लम ने मुसलमानों से कहा – तुम लोग हब्शा (अफ़्रीक़ा) चले जाओ. वहां का बादशाह 'नज्जाशी' ईसाई है और नेक भावनाओं वाला है. वह तुम लोगों के साथ अच्छा सुलूक करेगा.' चुनांचे ६१५ में १५ आदमी जद्दा पहुंचे और किश्तियों पर सवार होकर हब्शा देश चले गये. दूसरी बार ६१७ में १०० मुसलमान हब्शा गये.

बज़ाहिर यह एक नापसंदीदा घटना थी, मगर इसमें अल्लाह ताला ने एक ख़ैर की सूरत पैदा कर दी. मक्की मुसलमानों का हब्शा पहुंचना वहां इस्लाम को बहस का विषय बनाने का कारण बन गया. पैगंबर-ए-इस्लाम के ज़माने और आपकी दावत की ख़बरें 'हब्शा' में फैलने लगीं. कुरैश का एक विरोधी प्रतिनिधिमंडल के हब्श पहुंचने के नतीजे में हज़रत जाफ़र को मौक़ा मिला कि दरबार-ए-शाही में इस्लाम की दावत पर विशलेषित भाषण कर सकें. इस तरह की घटनाओं का नतीजा यह हुआ कि हब्शा से २० ईसाइयों का एक प्रतिनिधिमंडल मक्का आया ताकि असल मामले का अनुसंधान कर सकें.

जब यह लोग मक्का पहुंचे तो रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम मस्जिद-ए- हराम में थे. वह वहां गए और आप से मिल कर विभिन्न सवालात किए और पूछा कि आप क्या शिक्षा लेकर आए हैं. आपने बताया कि खुदा ने मेरे ऊपर अपना कलाम उतारा है और कुरआन की कुछ आयतें पढ़ कर सुनाईं. ये लोग चूंकि पुर्व ग्रह से मुक्त थे, कुरआन सुनकर बहुत प्रभावित हुए. उनकी आंखों से आंसू जारी हो गए. उन्होंने पुष्टि की कि बेशक यह अल्लाह का कलाम है और उसी वक़्त इस्लाम कुबूल कर लिया.

जिस वक़्त यह घटना हो रही थी, कुरैश (क़बीले) के लोग वहां जमा थे और सारा माजरा देख रहे थे. उन्हें आश्चर्य भी था और गुस्सा भी कि जिस मज़हब को उन्होंने रद्द कर दिया है, उसे बाहर के लोग आ-आ कर अपना रहे हैं. हब्शा के ये लोग जब रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम के पास से उठे तो अबू जिहल अपने कुछ साथियों के साथ उन्हें रास्ते में मिला. उसने उन लोगों की भर्त्सना करते हुए कहा : "हमारे ख़्याल है कि तुम से ज़्यादा अहमक़ क़ाफ़ला यहां कभी नहीं आया. तुम्हारे हम मज़हब लोगों ने तुमको इसलिए यहाँ भेजा था कि तुम उस व्याक्ति के हालात का अनुसंधान करो और वापस जाकर अपने साथियों को बताओ. मगर अभी तुम उससे मिले ही थे कि अपने 'दीन' (मज़हब) को छोड़ बैठे."

जैसा कि कुरआन में बताया गया है, यह इस्राइली उलेमा थे (शुअरा १९७) उन्होंने अबु जिहल वग़ैरह से कोई बहस नहीं की. बल्कि सिर्फ़ यह जवाब दिया : "सलाम है भाईयो तुमको, हम तुम्हारे साथ जिहालत नहीं कर सकते. हमें हमारे

तरीक़े पर चलने दो और तुम अपने तरीक़े पर चलते रहो. हम अपने आपको जान बूझ कर भलाई से वंचित नहीं कर सकते." (इब्न-ए-हश्शाम).

उन्हीं लोगों के बारे में क़ुरआन में आया है : "जिन लोगों को हमने इससे पहले किताब दी थी वह क़ुरआन पर ईमान लाते हैं, और उनको यह सुनाया जाता है तो वह यह कहते हैं : हम इस पर ईमान लाए, यह बिला शुब्हा ख़ुदा की तरफ़ से है, हमते पहले से ही इसको मानने वाले थे, यह वह लोग हैं जिनको दोहरा अजर (बदला) दिया जाएगा. इनके धैर्य के बदले. वह बुराई से भलाई को भगाते हैं और जो रिज़्क़ हमने उन्हें दिया है, उसमें से ख़र्च करते हैं. उन्होंन जब बेहूदा बात सुनी तो यह कह कर अलग हो गए : हमारे कर्म हमारे साथ और तुम्हारे कर्म तुम्हारे साथ, तुमको सलाम है, हम जाहिलों का तरीक़ा अख़्तियार करना नहीं चाहते." (सूरः क़सस ५२-५५).

प्रतिकूल स्थितियों में अनुकूल संभावना किन लोगों के लिए है, यह उन लोगों के लिए है, जो सब्र का तरीक़ा अख़्तियार करते हैं. सब्र यह है कि प्रतिक्रिया विवेक से सोंच समझ कर किया जाए. ऐसा इंसान अपनी यात्रा की गति को ख़ुदा की गति से हमआहंग कर देता है. उसे उन ख़ुदाई बख़्शिशों में हिस्सा मिलने लगता है जो जल्दबाज़ी से बचने वालों के लिए मुक़द्दर हैं.

एक वृक्ष काट दिया जाए तो खुली आंखों के लिए जैसे वृक्ष समाप्त हो गयात्र मगर कुछ अर्से बाद कि इंतज़ार को लंबा किया जा सके तो देखने वाला देखेगा कि जहां वृक्ष बज़ाहिर "ख़त्म" हो गया था वहां दुबारा एक नया 'वृक्ष' खड़ा हो गया है, ख़ुदा का यही मामला इंसानों के साथ भी है. हर बार जब किसी क़ौम या शख़्स के लिए एक संभावना ख़त्म होती है तो क़ुदरत के क़ानून के तहत एक दूसरी संभावना की कोंपलें इसके हित में निकलना शुरू हो जाती है. मगर जल्दबाज़ इंसान सब्र नहीं करता. वह तुरंत नतीजा बरामद करने के शौक में एक अललटप्प छलांग लगा देता है. उसकी जल्दबाज़ी उसे अवसर नहीं देती कि वह नयी उभरने वाली संभावनाओं को देख सके. जो "पहला" दरवाज़ा बंद होने के बाद उसके रब ने उसके लिए खोला था. सब्र सबसे बड़ा "दीन" है. मगर बहुत कम हैं, जो इस पहलू से दीनदार बनने की ज़रूरत महसूस करते हों.

जब इतिहास का रुख़ मोड़ दिया गया

प्राचीन अरब के उत्तर और दक्षिण के उपजाऊ हिस्से उस ज़माने के दो बड़े साम्राज्यों सासानी सल्तनत और बाज़िनतीनी सल्तनत के क़ब्ज़े में थे. उत्तर में ग़सासना की इमारत और बुसरी या बुसरा के महलात थे. यह दोनों बाज़ितीनी सल्तनत (रोम निवासियों) के मातहत थीं और यहां उनकी तरफ़ से. अरब सरदार

हुकूमत करते थे. रोमी प्रभाव के तहत यहां की बहुसंख्य आबादी मसीही (ईसाई) मज़हब अख़्तियार कर चुकी थी, अरब के दक्षिण में बहरीन रियासत, ओमान रियासत और यमन रियासत थी. ये रियासतें सासानी सल्तनत (ईरानियों) के मातहत थीं और उनके प्रभाव से यहां के नसगरिकों में अग्निपूजा की परंपराओं ने जड़ें जमा रखी थीं.

सन ६, हिज्री में हुदैबिया में जब कुरैश से अयुध्द-संधि हुई और स्थितियों पर शांति-व्यवस्था क़ायम हो गई तो नबी सल्लल्लाहो अलैहि वसल्लम ने अरब की दिशाओं में स्थित सल्तनतों को निमंत्रण-पत्र भेजना शुरू किया. इस सिलसिले में एक पत्र हारिस बिन अबी शिम्र ग़सानी के नाम था. नबी सल्लल्लाहो अलैहि वसल्लम के राजदूत शुजाअ बिन दहब आपका पत्र लेकर उसके पास गये. उस पत्र में यह भी था कि अल्लाह पर ईमान लाओ, तुम्हारी सत्ता बाक़ी रहेगी. उसने नबी के पत्र में यह जुमला पढ़ा तो उसे गुस्सा आ गया. उसने ख़त को ज़मीन पर फेंक दिया और कहा: मेरी हुकूमत मुझ से कौन छीन सकता है?

बुसरी का हाकिम शिरजील बिन अम्र ग़सानी ने उससे भी ज़्यादा बेहूदा सुलूक किया. उस रोमी गवर्नर के पास नबी सल्लल्लाहो अलैहि वसल्लम के राजदूत हारिस बिन उमैर सजदी आपका ख़त लेकर गये थे, वह शाम (सीरिया) की सरहद पर क़स्बा मौता में दाख़िल ही हुए थे कि बुसरा के हाकिम के इशारे पर एक आ'राबी ने उन्हें क़त्ल कर दिया.

अंतर्राष्ट्रीय परंपराओं के मुताबिक़ यह घटना एक देश पर दूसरे देश की बर्बरता के आचरण में था. विभिन्न प्रेक्षक यह भी व्यक्त कर रहे थे कि शाम की फ़ौजें पहल करके मदीने में दाख़िल होना चाहती हैं. रोमी साम्राज्य इसे बर्दाश्त नहीं कर सकता था कि अरब में कोई आज़ाद हुकूमत क़ायम हो और तरक़्क़ी करे.

हारिस बिन उमैर की हत्या की ख़बर सुनी तो नबी सल्लल्लाहो अलैहि वसल्लम ने इसका फ़ौजी जवाब देना ज़रूरी समझा, आपने हुक्म दिया कि मुसलमान अपने-अपने हथियार लेकर हरक़ मौज़ा में जमा हो जाएं. चुनांचे तीन हज़ार की संख्या में इस्लामी लश्कर संगठित हुआ जिसका सरदार आपके हुक्म से ज़ैद बिन हारिसा को नियुक्त किया और ज़रूरी नसीहतें करने के बाद उनको शाम की तरफ़ रवाना किया.

इस्लामी लशकर ने मआन (शाम या सीरिया) पहुंच कर पड़ाव डाला. दूसरी तरफ़ बुसरा का हाकिम भी जंग के लिये तैयार हो गया. उसकी हौसला अफ़ज़ाई इस घटना से भी हुई कि इत्तिफ़ाक़ से हरकुल उन्हीं दिनों मआब (बलक़ाअ) में आया हुआ था. उसके साथ एक लाख हथियारबंद फ़ौज थी. इसके अलावा उस इलाक़े के ईसाई आदिवासी लख़्म, जज़ाम, कैन, मराअ, बल्ली भी मसीही पक्ष

के बचाव में उठ खड़े हुए और बल्ली ख़ानदान के सरदार मालिक बिन ज़ाफ़ला के नेतृत्व में लड़ने के लिए तैयार हो गये. इस तरह शाम के मोर्चे पर एक लाख से भी ज़्यादा फ़ौज जमा हो गई, जबकि मुसलमानों की संख्या सिर्फ़ ३ हजार थी.

यह जंग जो जमादी उल अव्वल ८, हिजरी में हुई इसमें ज़ैद बिन हारिसा दुश्मनों के हाथ से मारे गये. इसके बाद जाफ़र बिन अबी तालिब और अब्दुल्ला बिन रवाहा भी नेतृत्व करते हुए शहीद हो गये. मुसलमानों का झंडा गिर जाने से भागम-भाग की स्थिति पैदा हो गई. उस वक़्त लश्कर-ए-इस्लाम के एक सिपाही साबित बिन अकरम ने बढ़ कर झंडा उठा लिया और ऊँची आवाज़ से कहा: 'मुसलमानों किसी एक शख़्स को अमीर बनाने पर इत्तिफ़ाक़ कर लो.'

मुसलमान फ़ौजियों की तरफ़ से आवाज़ आई – 'हम तुम्हारी सरदारी पर राज़ी हैं.' साबित इब्ने अकरम ने जवाब दिया – 'मैं यह काम न कर सकूंगा तुम लोग ख़ालिद बिन वलीद को अपना सरदार बना लो.' अब आवाज आई – 'हमको ख़ालिद बिन वलीद की सरदारी मंजूर है' – यह सुनते ही ख़ालिद बिन वलीद ने आगे बढ़कर झंडा अपने हाथ में ले लिया. और रोमी लश्कर पर हमला करके उसे पीछे धकेल दिया. इस जंग में दो हज़ार मुसलमान शहीद हुए.

हालांकि यह जंग फ़ैसलाकुन तौर पर ख़त्म नहीं हुई थी. हर वक़्त यह अंदेशा था कि रोमियों की मदद से ग़सासना मदीना पर चढ़ आ जाएं और इस नवजात रियासत को ख़त्म करने की कोशिश करें. जिलहिज ५, हिजरी में बनकरीता के ख़ातमे के बाद जब मदीना में कुछ आर्थिक मसले पैदा हुए और रसूल की पत्नियों ने गुज़ारा ख़र्चे में वृद्धि की मांग की तो आपको बहुत रंज हुआ और आपने एक महीना तक घर के अंदर न आने की क़सम खा ली. इस सिलसिले में तारीख़ में आता है कि जब एक सहाबी उमर फ़ारूक़ से मिले और उन से कहा: 'कुछ सुना आपने' तो उमर फ़ारूक़ की ज़ुबान से फ़ौरन निकला – 'क्या गसासना आ गये?' इससे अंदाज़ा होता है कि ग़सानियों की तरफ़ से मदीने को कितना बड़ा ख़तरा था.

नबी सल्लल्लाहो अलैहि वसल्लम को इस मसले का गहरा एहसास था. इसलिये अपनी उम्र के आख़िरी काल में जिन मामलों में आपने विशेष एहतिमाम किया उनमें ग़सासना या अन्य शब्द में रोमियों से मुक़ाबले के लिये फ़ौज की तैयारी भी थी. आपने इस मक़सद के लिये एक सेना को क्रम दिया. इस सेना में हालांकि अबु बकर और उमर जैसे बड़े-बड़े असहाब थे मगर आपने बहुत दूरदर्शिता से काम लेते हुए इस लशकर का नेतृत्व ओसामा बिन ज़ैद को नियुक्त किया. ओसामा न सिर्फ़ एक बहादुर नौजवान थे बल्कि उनके दिल में रोमियों से इंतक़ाम की गहरी भावना भी जोश मार रही थी. क्योंकि मौता की जंग में रोमियों ने उनके पिता

ज़ैद बिन हारिसा को क़त्ल किया था.

हालांकि नबी सल्लल्लाहो अलैहि वसल्लम की जिंदगी में यह लश्कर रवाना न हो सका क्योंकि ठीक उसी समय आपके ऊपर मौत का रोग हावी हो गया. आपकी वफ़ात (मौत) के बाद अबू बकर सिद्दीक़-ए-अकबर ने ख़लीफ़ा प्रथम की हैसियत से उस लश्कर को शाम की तरफ़ रवाना किया.

यह रवानगी भी इस्लामी इतिहास की आश्चर्यजनक घटना है. नबी सल्लल्लाहो अलैहि वसल्लम की वफ़ात के बाद हर तरफ़ से मुसलमानों द्वारा इस्लाम छोड़ने की ख़बरें आ रही थीं. लोगों ने पहले ख़लीफ़ा को मश्विरा दिया कि अब जबकि इस्लामी केंद्र ही ख़तरे में पड़ गया है और मदीना पर हमले की तैयारियां हो रही हैं, तो इस लश्कर की रवानगी को स्थगित कर दिया जाये, मगर सिद्दीक़-ए-अकबर का यह जवाब लोगों को ख़ामोश करने के लिये काफ़ी था: 'अगर मुझे यक़ीन हो कि लश्कर की रवानगी के बाद मुझको मदीने में कोई दरिंदा तन्हा पाकर फाड़ डालेगा, तब भी मैं इस लश्कर की कूच (रवानगी) को स्थगित नहीं कर सकता, जिसे खुद रसूलुल्लाह ने तरतीब दिया हो.' सिद्दीक़-ए-अकबर की यह ईमानी जुर्रत काम आई. ओसामा का लशकर न सिर्फ़ रोमियों के मुक़ाबले में कामयाब हुआ बल्कि रोम साम्राज्य के मुक़ाबले में मुसलमानों की विजय ने इस्लाम छोड़ने वालों के हौसले भी पस्त कर दिये, और उन पर वर्चस्व पा लिया गया.

इस घटना में एक और बहुत बड़ी हिकमत शामिल थी. अरब क़बीलों के लोग हमेशा से आपस में लड़ते चले आ रहे थे. बहुत चिंता थी कि अपनी शक्ति की अभिव्यक्ति के लिये अवसर न पाकर वे दुबारा आपस में लड़ने लगेंगे. नबी सल्लल्लाहो अलैहि वसल्लम ने अपनी मौत के वक़्त अरब ताक़त को रोमी साम्राज्य से भिड़ाकर इसका जवाब उप्लब्ध कर लिया था. अब अरब नागरिकों, निवासियों की जंगजू प्रवृत्ति के लिये एक बेहतरीन मैदान मिल चुका था. चुनांचे इतिहास ने देखा कि वे लोग जो अपने हमवतनों की हत्याओं के सिवा कुछ न करते थे उन्होंने एक सदी से भी कम अर्से में पूरी दुनिया जीत ली.

जौन बेगरग्लिब पाशा ने अपनी किताब 'दि लाइफ एण्ड टाइम्स आफ मुहम्मद' इसी पक्ष की तरफ़ इशारा करते हुए लिखा है – अरब निवासी नामालूम ज़माने से एक दूसरे के साथ जंग करने में अपना जीवन बिताते रहने के आदी थे. यह जंग किसी ख़ास कारण का नतीजा नहीं होती थी. बल्कि यह उनके जीवन क्रम का हिस्सा थी. अब जबकि बहैसियत मुसलमान वह एक दूसरे से लड़ने भिड़ने से रोक दिए गए थे, यह कैसे संभव था कि फ़ौजी ज़हनियत के क़बाइली लोगों को हमेशा के लिये शांतिपूर्वक जीवन बिताने पर मजबूर कर दिया जाये? पैगंबर-ए-इस्लाम ने खुद इस मुहिम को रवाना करके जिसने मौता में शिकस्त

खाई थी, इस सवाल का हल पेश कर दिया था.

६३४ ई० की सर्दियों में तीन अरब कामिलों ने फ़िलिस्तीन और सीरिया (शाम) पर हमला कर दिया. इसी बीच में पूर्वी अरब के क़बीलों ने जो 'हैयरा' की लख़मी रियासत की ज़ब्ती के बाद से ईरान के दुश्मन बने हुए थे, फ़ुरात की तरफ़ पेशक़दमी करके हैयरा पर क़ब्ज़ा कर लिया. २६ अगस्त, ६३६ ई० को बाजिंतीनी (रोमी) शक्ति ने यरमूक के मैदान में पूर्ण पराजय पाई और शाम का सारा इलाक़ा तबरिया तक अरब निवाससियों के क़ब्ज़े में आ गया. फरवरी, ६३७ ई० में ईरानी फ़ौज क़ादसिया के मुक़ाम पर जो हैयरा से चंद मील के फ़ासले पर थी, मुकम्मल तौर पर तबाह कर दी गई, और ईरानियों के मुताबिक़ प्राचीन इराक़ जो ईरानी राजधानी मदाइन, जो दज्ला के दक्षिण में मौजूदा बग़दाद के क़रीब स्थित था अरबों के वर्चस्व में आ गया. ६४० ई० में मिस्र पर हमला हुआ और एक बार फिर बाज़िंतीनी हुकूमत पराजित हुई, और सितंबर, ६४२ ई० तक पूरे मिस्र पर अरब का क़ब्ज़ा मुकम्मल हो गया.

रसूलुल्लाह सल्लल्लाहो अलैहि वसल्लम और आपके बाद पहले ख़लीफ़ा-ए-राशिद हज़रत अबू बकर रज़ि अल्लाहो अन्हु ने, नाजुक हालात के बावजूद हज़रत ओसामा के लश्कर को रोमियों की तरफ़ भेजा. यह मुसलमानों की आगामी नस्लों के लिये एक महान सबक़ था. मुसलमानों के लिये शक्ति परीक्षण का मैदान बाहरी दुनिया है, न कि अंदुरूनी दुनिया. मगर अजीब बात यह है कि यह अहम तरीन सबक़ बाद के ज़माने में मुसलमानों को याद न रहा. वह इसे भूल गये. ख़ास तौर पर तो मौजूदा ज़माने मैं यह हाल है कि मुस्लिम देश दो गिरोहों (प्रगतिशील और पुरातनपंथ) में बंट गये हैं, और एक दूसरे के प्रतिद्वंदी बने हुए हैं. उनकी हथियारबंद सेनाएं अपने ही देशों को जीतने में मशग़ूल हैं. मुस्लिम जमायतें खुद अपने देशों की सरकारों से दो-दो हाथ कर रही हैं. बाहरी विरोधियों से मुक़ाबले के लिये हर एक आजिज़ है और अपने भाइयों से लड़ने के लिये हर एक बहादुर बना हुआ है. अगर ऐसी स्थिति में इस्लाम के प्रसार और विस्तार का काम रुक जाये तो इसपर आश्चर्य नहीं करना चाहिये.

यह कामयाबी योजना से हासिल की गई

'दश्त तो दश्त है, दरिया भी न छोड़े हमने
वहर-ए-जुल्मात में दौड़ा दिये घोड़े हमने'

इस तरह की पंक्तियां मुसलमानों में अदूरदर्शिता का ज़ेहन पैदा करती रही हैं. हालांकि खुद इस शेर में जिस घटना की तरफ़ इशारा है, वह एक सोची-समझी

योजनाबद्ध पेशक़दमी थी, न कि महज़ एक पुरजोश छलांग.

१६ हिज़्री में इस्लामी फ़ौज सा'द बिन विक़ास के नेतृत्व में इराक़ के इलाक़ों को फ़तह कर रही थी. बहीर-ए-शीर के इलाक़े को जीत कर जब वह आगे बढ़ी तो सामने दरिया-ए-दजला था और उसके दूसरी तरफ़ मदाइन जो ईरानियों का एक प्रमुख शहर था और वहां उन्होंने ज़बरदस्त क़िला बना रखा था. ईरानियों ने बहीरा-ए-शीर से भागते हुए दजला के पुल को तोड़ दिया था और दूर-दूर तक कोई किश्ती भी न छोड़ी थी जिससे इस्लामी लश्कर दरिया को पार कर सके. सा'द बिन अबी विक़ास अगले दिन अपने घोड़े पर सवार हुए और यह कह कर घोड़ा दरिया में डाल दिया: 'हम अल्लाह से मदद चाहते हैं और उसी पर भरोसा करते हैं. अल्लाह हमारे लिये काफ़ी है और वह बेहतरीन मददगार है. अज़ीम व बरतर (बड़ा). ख़ुदा के सिवा किसी के पास कोई ताक़त नहीं.'

आपको देखकर दूसरों को भी जुर्रत हुई और पूरा लश्कर अपने-अपने घोड़ों के साथ दरिया में तैरने लगा. ये लोग आधी से ज़्यादा नदी पार कर चुके थे कि ईरानी तीरंदाज़ों ने तीरों की बारिश शुरू कर दी, जो दरिया के दूसरे किनारे पर पहले से मौजूद थे.

दरिया में तैरता हुआ लश्कर इस नागहानी आफ़त का ख़ुद मुक़ाबला नहीं कर सकता था. फिर क्या चीज़ थी, जिसने फ़ौज को बर्बाद होने से बचाया? ये कोई इत्तिफ़ाक़ नहीं था, न कोई महज़ जोश का करिश्मा था. यह सोची-समझी योजना थी. जो कुछ हुआ वह ठीक उस नक़्शे के मुताबिक़ हुआ जो पहले से तय कर लिया गया था.

स्थिति से निमटने के लिये सा'द बिन विक़ास ने बाक़ायदा मश्विरा किया. सा'द बिन विक़ास जहां अल्लाह की मदद पर यक़ीन करते हुए दरिया में कूद पड़े, वहीं उन्होंने हालात का मुकम्मल जायज़ा लेकर उस आने वाली आफ़त का भी पेशगी का अंदाज़ा कर लिया था. चुनांचे इतिहास बताता है कि जब उन्होंने घोड़ा दरिया में डालने का इरादा किया तो अपनी फ़ौज से फ़रमाया कि – 'तुम में कौन ऐसा बहादुर सरदार है जो अपनी जमीयत के साथ इस बात का वायदा करे कि वह हमें दरिया पार करने के वक़्त दुश्मन के संभावित हमले से बचायेगा? आसिम बिन अम्र ने इसकी ज़िम्मेदारी ली और छह सौ तीरंदाज़ों की एक जमात लेकर दजला के इस किनारे एक ऊंचे मुक़ाम पर खड़े हो गये. जैसे ही ईरानी तीरंदाजों ने दजला में तैरते हुए इस्लामी लश्कर पर तीर फेंकने शुरू किये, आसिम बिन अम्र के दस्ते ने पूरी क़ुव्वत के साथ ईरानी तीरंदाज़ों पर अपना तीर बरसाना शुरू कर दिया, यहां तक कि वे सब बचाव की स्थिति में आ गये और सुरक्षा के लिए इधर उधर बिखरने लगे. इसी बीच इस्लामी लश्कर दरिया पार करके दूसरे किनारे

पर पहुंच गया और ईरानी फ़ौजों पर हमला करके मदाइन पर फ़तह (विजय) प्राप्त कर ली.

पीछे हटना भी महत्वपूर्ण क़दम है

पैग़म्बर-ए-इस्लाम सल्लल्लाहो अलैहि वस्ल्लम की वफ़ात (११, हिजरी) के बाद बीस साल तक विजय-क्रम बना रहा और जबर्दस्त तौर पर यह सिलसिला जारी रहा. हर महीने किसी न किसी बड़े इलाक़े को फ़तह करने की ख़बर आती थी. मगर तीसरे ख़लीफ़ा की शहादत (३५ हिज्री) के साथ जो आपसी लड़ाइयां शुरू हुई, उन्होंने तक़रीबन १० साल तक विजय का जो सिलसिला था उसे ख़त्म कर दिया. वह शख़्स जिसने इस बंद दरवाजे को खोला, वह हज़रत इमाम हसन रज़िअल्लाहो अन्हु थे. ४१ हिज्री में आपकी ख़िलाफ़त से दस्त बरदारी स्पष्टतया कर्म भूमि से वापसी का एक फ़ैसला थी. मगर इस वापसी ने इस्लामी इतिहास में कर्त्तव्य और कर्म की नयी संभावनाएं खोल दीं :

हज़रत हसन बिन अली इब्ने अबी तालिब शाबान, तीन हिज्री में पैदा हुए. रबीउल अव्वल, ५० हिज्री में वफ़ात पाई. आपके वालिद हज़रत अली की शहादत १७ रमज़ानुल मुबारक ४०, हिज्री को कूफ़ा में हुई तब आपकी उम्र ३७ साल थी. उस वक़्त सिर्फ़ इराक़ और ईरान हज़रत अली की सत्ता में रह गये थे. इसके अलावा यमन, हिजाज़, शाम, फ़िलिस्तीन और मिस्र वग़ैरह में अमीर मुआविया की हुकूमत क़ायम थी. हज़रत अली की ख़िलाफ़त के अधीन इलाक़ों में भी, बहुत से लोग गुप्त रूप से आपके विरोधी थे. हज़रत अली की शहादत के बाद लोगों ने इमाम हसन के हाथ पर खिलाफ़त की बैयत की, जो आपके सब से बड़े साहिबज़ादे थे.

हज़रत हसन ने हालात की नज़ाकत को देखते हुए ख़िलाफ़त की ज़िम्मेदारी को क़ुबूल कर लिया. मगर उनके अंदर चूंकि सत्ता का लालच न था, उन्होंने बहुत जल्द इस हक़ीक़त को महसूस कर लिया कि मौजूदा हालात में उनका ख़िलाफ़त पर इसरार करना सिर्फ़ मिल्लत में बिखराव करने जैसा होगा. उन्होंने एक हक़ीक़त पसंद (यथार्थवादी) इंसान की तरह एक बार अपने छोटे भाई हज़रत हुसैन रजि० से कहा था : "मैं जानता हूं कि नबूवत व ख़िलाफ़त दोनों हमारे ख़ान्दान में जमा नहीं रह सकतीं". इसी नज़ाकत की वजह से आपने बैयत के वक़्त लोगों से यह इक़रार ले लिया था कि 'मैं जिससे जंग करूं, तुम उससे जंग करोगे, मैं जिससे सुलह करूं, तुम उससे सुलह करोगे.'

हज़रत अली के बाद कूफ़ा के लोगों ने हज़रत हसन को ख़लीफ़ा बनाया. दूसरी तरफ़ हज़रत अमीर मुआविया के लिये हज़रत अली की शहादत जैसे रास्ता

साफ़ होने की तरह था. उन्होंने हज़रत अली की शहादत की ख़बर मिलते ही अपने लिये 'अमीरुल मोमिनीन' का उपनाम अख़्तियार कर लिया और यह योजना बनाई कि शेष इस्लामी इलाक़ों 'इराक़ व ईरान' को भी अपने मातेहत करके अपनी हुकूमत को मुकम्मल कर लें. अमीर मुआविया ने नयी बैयत कार्रवाई पूरी करने के बाद साठ हज़ार लश्कर लेकर दमिश्क़ से कूफ़ा की तरफ़ रवाना हुए. कूफ़ा में दाख़िल होने से पहले उन्होंने इमाम हसन को पैग़ाम भेजा कि जंग से बेहतर यह है कि आप मुझसे सुलह कर लें और मुझे वक़्त (नया) का ख़लीफ़ा मान लें. इमाम हसन के पास भी उस वक़्त साठ हज़ार का लश्कर था, जो लड़ने मरने को तैयार था. मगर इमाम हसन ने मुसलमानों को आपसी खूरेज़ी से बचाना ज़्यादा ज़रूरी समझा. वह ख़िलाफ़त के अपने हक़ से खुद हट गये और सिर्फ़ छह महीने ख़लीफ़ा रहकर अमीर मुआविया के हाथ पर कूफ़ा की मस्जिद में बैयत कर ली.

इमाम हसन के जोशीले हिमायतियों के लिये यह 'ज़िल्लत' असह्य थी. उन्होंने इस फ़ैसले के ख़िलाफ़ बहुत शोर गुल किया. यहां तक कि आपको आरूल मुस्लिमीन 'मुसलमानों के लिये नंग' की उपाधि भी जनता ने दी और आपको काफ़िर तक कहा गया. आपके कपड़े नोचे गये, यहां तक कि आप पर तलवार से हमला किया गया. मगर आप किसी भी हाल में मुक़ाबले की राजनीति के लिये तैयार न हुए. बल्कि फ़रमाया:

'ख़िलाफ़त अगर मुआविया बिन अबू सुफ़ियान का हक़ था, तो उनको पहुंच गया और अगर यह मेरा हक़ था तो मैंने उन्हें बख़्श दिया.' – एक शख़्स के पीछे हट जाने का नतीजा यह हुआ कि मुसलमानों का आपसी मतभेद आपसी संगठन में बदल गया. और ४१, हिज्री जो इस्लामी इतिहास में 'सिफ़्फ़ीन' और 'जमल' के बाद तीसरी सब से बड़ी आपसी खूरेजी का उनवान बनता आम जनता की जमाअत के वर्ष के नाम से पुकारा गया. वह मतभेद के बजाये एकता और संगठन का साल बन गया. मुसलमानों की शक्ति जो आपस की जंगों में बर्बाद होती, इस्लाम के प्रसारण और विस्तारण में ख़र्च होने लगी.

हक़ीक़त यह है कि कभी हटने का नाम आगे बढ़ना होता है, हालांकि बहुत कम लोग हैं, जो इस हक़ीक़त को जानते हैं. हज़रत हसन का यह क़दम किसी क़िस्म का पलायन या दबाव कुबूल करना न था. यह मुकम्मल सियासत थी और वही चीज़ थी, जिसका नमूना खुद पैगम्बर-ए-इस्लाम सल्लल्लाहो अलैहि वसल्लम ने अपनी जिंदगी से क़ायम फ़रमाया है.

सामूहिक ज़िंदगी का मामला इंतहाई नाज़ुक होता है. अगर कोई शख़्स सिर्फ़ मुक़ाबले और गतिविधि जैसे शब्दों के आयाम में सोचना जानता हो, तो वह कभी सामूहिक और सामाजिक सुधारों के मैदान में कामयाब नहीं हो सकता. क्योंकि सामुदायिक जिंदगी विभिन्न विचार की शक्ति के संग्रह का नाम है. इसमें क़यास

की हद तक विभिन्न सूरतें पेश आती हैं. इसलिये सामूदायिक, सामाजिक या सामूहिक ज़िंदगी में कर्म के तरीक़े का कोई स्तर निश्ति नहीं किया जा सकता. ज़रूरी है कि उन ताक़तों को समझा जाये जो मोर्चे के मूक़ाबले में व्यस्त हैं और अपनी और दूसरों की स्थिति को तुलना करके अपने कार्यक्रम की योजना बनाई जाये. यह काम बयक वक़्त निहायत गहरी निगाह का तालिब है और उसी के साथ भावनात्मक पेचीदगियों से आज़ाद जेहन का भी – सामूदायिक मुक़ाबलों में कभी अपने आपको मुकम्मल तौर पर दृष्टिकोण के प्रसार के दायरे में महदूद रखना पड़ता है. इसकी मिसाल मक्का के प्रारंभिक १२ साल हैं.

कभी हालात का तक़ाज़ा होता है कि विरोधी पक्ष के चैलेंजों को रणभूमि में स्वीकार किया जाये. इसकी एक मिसाल ग़ज़्व-ए-बद्र है. कभी दूरदर्शित नतीजों को पाने के लिये ज़रूरी होता है कि दूसरे पक्ष से सीधा टकराव करने से बचा जाए. चाहे इसकी क़ीमत यही क्यों न हो कि दूसरे पक्ष की एक तरफ़ा मांगों को मान लेना पड़े. इसकी एक मिसाल मुआहिदा-ए-हुदैबिया है. इस्लामी अर्थ में यह सियासत का सब्र है. जो शख़्स सियासत में सब्र के ज़रिये काम करने का तरीक़ा न रखता हो उससे इस्लाम की कम से कम मांग यह है कि वह अपने आप को राजनीति के मैदान में दाख़िल न करे.

कामयाब क़दम वही उठा सकता है जो कामयाब स्थाई का राज़ जानता हो. पीछे हटना बुज़दिली नहीं राजनीति है. वर्चस्व वाली शक्ति से न टकराना ज़ुल्म का सहना नहीं बल्कि ज़ुल्म को जड़ से मिटाने की शक्ति जुटाना है. सियासत को छोड़ देना सियासी ख़ुदकुशी नहीं बल्कि समाज के अन्य मामलों, मसलों को सामने लाने का मौक़ा देना है. विरोध से बचना मसले से आंखें चुराना नहीं है बल्कि अपनी कुव्वतों को सकारात्मक निर्माण की राह में लगाना है. जो व्यक्ति तुरंत की प्रतिक्रया के तहत सियासत के मैदान में कूद पड़ता है वह सियासत से अंजान लोगों में बड़ा अंजान और बेबकूफ़ माना जायेगा

सोची समझी योजना का पुरजोश क़दम

तारिक़ बिन ज़ियाद रमज़ान ९१, हिज्री में स्पेन के साहिल पर उतरे तो उनके साथ सात हज़ार फ़ौज थी. अफ़्रीक़ी तट और स्पेन के बीच दस मील के पानी के रस्ते को फ़ौज ने चार बड़ी नावों से पार किया था. इस घटना की चर्चा करते हुए तत्कालीन 'इस्लामी इतिहास लेखक' लिखते हैं: 'इससे उस ज़माने के ज़हाजों का अंदाजा हो सकता है, कि वह कितने बड़े थे.'

लेखक ने अंदाज़ा किया कि पूरी सेना एक ही बार चार किश्तियों पर लद कर दूसरी तरफ़ पहुंच गई होगी. हालांकि यह सही नहीं है. उस ज़माने में ऐसे

नाव नहीं बने थे जिस पर अपने हथियारों और सामान के साथ दो हज़ार सिपाही एक साथ बैठ सकें. असल बात यह है कि उस फ़ौज ने कई फेरे में तारिक़ समुद्र को पार किया था.

सातवीं सदी ईसवी के अंत तक मुसलमानों ने अफ़्रीक़ा को रोम समुद्र के आख़िरी तटवर्ती क्षेत्रों तक का इलाक़ा जीत लिया था. बाजिंतीनी सल्तनत एशिया और अफ़्रीक़ा से ख़त्म हो चुकी थी. हालांकि मराक़श के साहिल पर सबता और उसके इर्द-गिर्द के इलाक़े अब भी स्पेनी गवर्नर येलियान (काउंट जोलेन) के क़ब्ज़े में थे. यहां रोमियों ने ज़बर्दस्त क़िला बनाया था. मूसा बिन नसीर ने उस क़िले को फ़तह करने की कोशिश की. मगर उनकी ताक़त देखकर अंततः उन्होंने यही उपयुक्त जाना कि जोलेन से संधि कर लें और उस तटवर्ती क़िले को उसी के क़ब्ज़े में छोड़ दें. अफ़्रीक़ा से बाजिंतीनी सल्तनत के ख़ात्मे के बाद जोलेन ने अपने राजनीतिक संबंधों को स्पेन की ईसाई सरकार से ज़्यादा मज़बूत तौर पर जोड़ लिये. सब्ता उस वक़्त इंदलस का एक समुंदर पार का राज्य माना जाता था. इंदलस से बराबर किश्तियों के ज़रिये उसे मदद पहुंचती रहती थी.

यहां यह सवाल है कि जो मुसलमान स्पेन के एक मातेहत गवर्नर से ख़ुद अपने विजित महादेश में सुलह करने पर मजबूर हुए थे. उन्होंने समुंदर पार करके ख़ुद स्पेन पर हमला करने की जुर्रत किस तरह की. इसका जवाब प्रस्तुत जेरे-बहस मसला के ऐतिहासिक अध्ययन से गहरा संबंध रखता है.

> इतिहास इंसानी कर्म का रिकार्ड है. लेकिन इतिहास को अगर अफ़साना बना दिया जाये तो वह एक ऐसा ज़ेहनी कारख़ाना बन जाती है, जिसमें सिर्फ़ ख़ुशफ़हमी की घातक गोलियां तैयार होती हैं.

४०० ई० में क़ौत (गाथ) क़बीले स्पेन में घुस आए और पांच सौ वर्षीय रोमी सल्तनत को ख़त्म कर के वहां अपनी हुकूमत क़ायम कर ली. बाद को उन लोगों ने ठीक उसी तरह मसीही मज़हब (ईसाइयत) अख़्तियार कर लिया, जिस तरह तुर्कों के एक गिरोह बनू-सलजूक (सलजूक क़बीलाई ख़ानदान) ने मुस्लिम दुनिया पर क़ाबिज़ होने के बाद इस्लाम क़ुबूल कर लिया. गाथ का मक़सद इस धर्मांतरण से यह था कि स्थानीय ईसाइयों को निश्चिंत करके स्पेन में अपने राजनीतिक वर्चस्व को स्थायित्व प्रदान करें. जिस ज़माने में मुसलमानों ने बाजिंतीनी सत्ता को शाम, मिस्र और फ़िलिस्तीन से ख़त्म किया, तलीतला (टालिडो) पर गाथ का आख़िरी सम्राट 'वईका' (फ़ीत्शा) हुक्मरान था. वईका की कुछेक कमज़ोरियों से उसके एक फ़ौजी अफ़सर रैड्रिक (Radrick) को मौक़ा मिला कि वह उसकी हुकूमत का तख़्ता उलट दे और ख़ुद स्पेन का सत्ताधारी बन जाये.

सब्ता का गवर्नर 'जोलेन' हालांकि 'वईका' का रिश्तेदार था. यद्यपि उसने मसलहत के तहत अपनी वफ़ादारियां रैड्रिक से जोड़ लीं: मगर बाद में एक ऐसी घटना हुई जिसने उसे बहुत प्रतिशोधित कर दिया और उसे अपने सम्राट का विरोधी बनाकर मुसलमानों के क़रीब कर दिया, जो अफ़्रीक़ी महादेश में उसके भौगोलिक पड़ोसी थे.

उस ज़माने में स्पेन का हुक्मरान वर्ग बदतरीन क़िस्म की अईयाशियों का शिकार था. रिवाज के मुताबिक़ अमीरों की लड़कियां अर्से तक शाही महल में रखी जाती थीं, ताकि शाही सभ्यता और व्यवहार सीख सकें और बादशाह की सेवा करें. रैड्रिक के काल में जोलेन की लड़की फलोरिडा भी इसी रिवाज के मुताबिक़ शाही महल में दाख़िल हुई. लड़की जवान हुई तो रैडरिक उस पर आशिक़ हो गया और उसके साथ बलात्कार कर बैठा. लड़की ने किसी तरह इस घटना की सूचना अपने पिता जोलेन को दी.

जोलेन को इस घटना का बहुत सदमा हुआ. उसने क़सम खाई कि जब तक रैड्रिक की सल्तनत को दफ़न न करले, चैन से न बैठेगा. सबसे पहले वह तलीतला गया और लड़की की मां की बीमारी के बहाने लड़की को वापस लाया. फिर सब्ता में ही मूसा बिन नसीर से मिला उसे वरग़ला कर इंदलिस के बिखराव पर आमादा किया. उसने मूसा को इंदलिस की अंदुरूनी कमज़ोरियां बताई और वायदा किया कि वह और खुद इंदलिस के बहुत से लोग इस मुहिम में इस्लामी फ़ौज का साथ देंगे. यह घटना ९० हिज्री की है. यह भी कहा जाता है कि जोलेन ने इस्लाम कुबूल कर लिया था और अपना नाम मुस्लिम रखा था.

इसके बाद मूसा बिन नसीर ने ख़लीफ़ा वलीद बिन अब्दुल मलिक से पत्र व्यवहार किया. कई पत्रों के जवाब में वलीद ने लिखा: 'मुसलमानों को ख़ौफ़नाक समुंदर में न डालो. अगर तुम्हें पूरी उम्मीद हो तब भी शुरू में थोड़ी सी सेना भेजकर सही अंदाज़ा करलो?

मूसा ने रमज़ान ९१, हिज्री में एक व्यक्ति (तरीफ़) को जिसका गोत्र नाम 'अबू-ज़रआ' था पहली मुहिम के तौर पर पांच सौ आदमियों के साथ स्पेन रवाना किया. जोलेन भी उनके साथ था. उत्तरी अफ़्रीक़ा के तटवर्तीय देश मुराक़श और स्पेन के बीच दस मील की 'जल दूरी' है. उन लोगों ने चार नावों के ज़रिये इसे पार किया और दूसरी तरफ़ साहिल पर उतरकर वहीं तटवर्तीय क्षेत्रों में एक लंबी अवधि के प्रवास से स्थिति का अंदाज़ा करने के बाद वापस आ गये.

अगले वर्ष रमज़ान ९२, हिज्री में तारिक़ बिन ज़ियाद की कर्मठ नेतृत्व में सात हज़ार फ़ौजें तैयार हुई. दस मील के पानी के रास्ते को पार करके जब सेना स्पेन के किनारे उतरी तो कहा जाता है कि तारिक़ ने अपनी तमाम किश्तियां जला दीं जो एक मन गढ़त घटना मालूम होती है. उस ज़माने में और आज भी युद्ध-विजय

की कहानियों में इस प्रकार की काल्पनिक घटना वृद्धि आम बात रही है. हमारे इस ख़्याल के लिये प्रमाण यह है कि इंदलिस के इतिहास तथा अन्य प्राचीन किताबों मसलन 'अख़बारे मजमूआ फ़ी फ़त्हुल इंदलिस' में यह घटना दर्ज नहीं है.

बताया जाता है कि समुंदर को पार करके जब तारिक़ बिन ज़ियाद स्पेन के तट पर उतरे तो उन्होंने अपनी सेना को ललकारा: 'ऐ लोगो दुश्मन तुम्हारे सामने है, और समुंदर तुम्हारे पीछे है. तुम्हारे लिये ख़ुदा की क़सम इसके सिवा कोई राह नहीं कि सब्र करो और जम कर मुक़ाबला करो'. सेनानायक की यह जोशीली पंक्तियां सुनकर सेना चीख उठी:–'तारिक़ हम सब तुम्हारे साथ हैं.'

तमाम इतिहासों के सर्वसम्मत बयान के मुताबिक़ विरोधी सेना से मुक़ाबला तट पर उतरते ही तुरंत नहीं करना पड़ा. अंदाज़ा है कि यह तक़रीर बाद में उस वक़्त की गई है जब व्यवहारिक मुक़ाबले का वक़्त आया. इंदलिस पर विजय के बाद जब तक़रीर का एक वाक्य 'समुंदर तुम्हारे पीछे है' लोगों की ज़ुबान पर आया तो क़िस्सा कहने वालों में इसमें यह वृद्धि अपनी तरफ़ से कर दी कि यह भाषण किश्तियों को जलाने के बाद की गई थी. शायद उनकी समझ से समुंदर के पीछे होने के लिये ज़रूरी था कि समुंदर और सेना के बीच से किश्तियों और नावों को हटा दिया गया हो.

वसयरलेस के दौर से एक हज़ार साल पहले समुंदर पार के एक मुल्क में उतरने वाला एक कमांडर इस हक़ीक़त से बेख़बर नहीं रह सकता था कि स्पेन के साहिल पर उतरने के बाद यही किश्तियां एकमात्र संपर्क माध्यम हैं. तारिक़ और मूसा बिन नसीर 'अफ़्रीक़ी गर्वनर' के बीच पैग़ाम भेजने और संवाद क़ायम करने का दूसरा कोई दूसरा रास्ता था भी नहीं, न संभव था. यह सिर्फ़ अंदाजा नहीं बल्कि घटनाएं साबित करती हैं, कि स्पेन के तट पर उतरने और मुक़ाबला होने के बीच तक़रीबन दो महीने तक यही किश्तियां संपर्क सूत्र का काम करती रहीं.

तारिक़ जिस स्थान पर उतरे उसका नाम क़िलअ-तुल-असद (Lion's Rock) था. बाद में वह जबलुल तारिक़ (Jabra Altar) के नाम से मशहूर हुआ. तारिक़ स्पेन के जिस तट पर उतरे उस वक़्त वह आबादी विहीन इलाक़ा था. वहां एक मुश्किल पहुंच वाली पहाड़ी को शरण-स्थली बनाकर वह लोग इकट्ठा हो गये. ताकि हालात को समझ कर आगे का नक़्शा बना सकें. स्पेन का सम्राट रैड्रिक उन दिनों बंबलूना (Pamplona) की एक जंग में व्यस्त था, जहां उसके ख़िलाफ़ बग़ावत हो गयी थी. उसे जब स्पेन में तारिक़ के प्रवेश की ख़बर मिली तो उसने एक लाख फ़ौज को संगठित होकर तारिक़ को बाहर निकाल भगाने का हुक्म दिया. तारिक़ की जासूसी व्यवस्था भी काम पर लगी हुई थी. उन्होंने ही रैड्रिक की तैयारियों की सूचना दी

जो तारिक़ ने तुरंत अपना एक दूत मूसा बिन नसीर (अफ़्रीक़ा का गर्वनर) के यहां रवाना किया और थोड़ी ज़्यादा कुमुक भेजने का निवेदन किया. इधर मूसा भी खामोश न थे, बल्कि निरंतर तैयारियों में लगे हूए थे. चुनांचे उन्होंने पांच हज़ार की और सेना बतौर कुमुक भेजी, जिसके बाद तारिक़ की सैनिक संख्या बारह हज़ार हो गई.

तारिक़ ने संपर्क और संदेश का काम उन्हीं किश्तियों से लिया जिस पर वे आये थे. कोई दूसरा ज़रिया उस ज़माने में संभव भी नहीं था. और फिर यही किश्तियां थी. जिन्होंने पांच हजार विशेष कुमुक सिपाहियों की दूसरी क़िस्त का वाहन किया, वर्ना तारिक़ हमला करने के क़ाबिल न हो पाते. इस लिये किश्तियां जलाने की घटना मन गढ़त लगती है.

इस जंग में जोलेन पूरी तरह तारिक़ के साथ था. उसने सम्राट रैड्रिक के ख़िलाफ़ स्थानीय नागरिकों की नाराज़गी का फ़ायदा उठाया और अपने संबंधों के आधार पर स्पेनी नागरिकों की एक जमाअत तैयार करके तारिक़ की सेवा के लिए हाज़िर कर दिया. उन लोगों ने रैड्रिक के ख़िलाफ़ मुख़बिर का कारनामा अंजाम दिया और ख़ास तौर पर कमज़ोर सैनिक चौकियों की ख़बरें लाते रहे और मुसलमानों को विजय का मार्ग प्रशस्त करते रहे. यह घटना भी मुसलमानों के हित में सिद्ध हुई कि तीन वर्ष '८८-९० हिज्री' तक इंदलिस में सख़्त अकाल पड़ा था, जिसमें इंदलिस की आधी आबादी मर चुकी थी.

उस पर यह लाभ मिला कि रैड्रिक की एक लाख सेना के महत्वपूर्ण अंश में ऐसे लोग भी थे जो पूर्व सम्राट में आस्था रखते थे और रैड्रिक को बाग़ी समझते थे. उनमें पूर्व सम्राट के बेटे शसरत और अब्ता दो ऐसे सरदार थे जिन्होंने अपने अनुयायियों की एक गुप्त बैठक में कहा था : 'रैडरिक ख़बीस ख़्वाहमख़्वाह हमारे मुल्क पर आ जमा है. हालांकि शाही ख़ानदान से इसका कोई संबंध नहीं. यह तो हमारे यहां के कमीनों में से है. रहे मुसलमान तो वह सिर्फ़ वक़्ती लूट मार के लिये आए हैं. इसके बाद अपने वतन को वापस चले जाएंगे. इस लिये मुक़ाबले के समय ख़बीस रैड्रिक को सबक़ सिखाने के लिये हमें खुद ही पराजय स्वीकार लेनी चाहिये.'

लेकिन रैडरिक की सेना के एक हिस्से ने निहायत सख़्त जंग की. मगर ग़ैर मुतमइन सैनिकों ने युद्ध में ज़ोर नहीं दिखाया. अंतत: पराजित होकर रैड्रिक भाग खड़ा हुआ. फिर वह ज़िंदा मिल सका न मुर्दा. कहा जाता है भागते हुए वह एक दलदल में धंस कर मर गया.

स्पेन के कुछ इलाक़ों को तारिक़ ने जीता. कुछ इलाक़ों को मुग़ीस रोमी और कुछ को मूसा बिन नसीर ने, जो बाद में १८ हजार सेना के साथ इंदलिस

में दाख़िल हुआ था. अवाम अपने बादशाह से और सरदारों से इस क़दर नाराज़ थी कि स्पेनी नागरिक आसानी से नबी हुकूमत के मददगार और जासूस खुद ही बन गये. कई इतिहासकारों ने लिखा है कि ग़ैर मुस्लिम जासूसों ने स्पेन के प्रारंभिक विजय अभियान में बहुत मदद की थी.

ख़ुदा की यह दुनिया कोई तिलस्मी कारखाना नहीं है. यह निहायत सिद्ध उसूलों पर क़ायम है. यहां कोई घटना उन क़ानूनों की अनुकूलता के नतीजे में ही घटती है, जिनपर संसार की व्यवस्था चल रही है, जो व्यक्ति या क़ौम अपने लिये कोई वास्तविक भविष्य देखना चाहे उसके लिये अनिवार्य है कि वह प्रकृति की अटल बुनियादों पर अपने कर्म की योजना बनाये. अगर उसने ऐसा न किया तो ख़ुदा की इस दुनिया में उसका कोई अंजाम नहीं. चाहे वह अपने तौर पर अपने बारे में कितनी ही ख़ुशफ़हमी में मुब्तला क्यों न हो.

हमारी ज़िन्दगी का दर्दनाक पहलू

मलयेशिया के पूर्व प्रधानमंत्री तिनको अब्दुर्रहमान ने बताया कि मलयेशिया में आबाद ग़ैर मुस्लिम, इस्लाम के बारे में जानकारी के शौक़ीन हैं, मगर मुसलमानों को इससे कोई दिलचस्पी नहीं है कि उन्हें इस्लाम का पैग़ाम पहुंचाएं. अलबत्ता चुनाव के अवसर पर ग़लत तरह की राजनीति बाज़ी के ज़रिये वह ग़ैर मुस्लिमों को इस्लाम के प्रति कुछ प्रभावित करते हैं. उन्होंने बताया कि उनकी पार्टी (परकम) की कोशिशों से मलयेशिया में तक़रीबन ३० हजार और सबाह (निकटवर्ती अधीनस्त क्षेत्र) में एक लाख लोग इस्लाम कुबूल कर चुके हैं. सरावक में हर दिन लोग इस्लाम में दाख़िल हो रहे हैं मगर मुसलमान उन्हें अपने समाज में कुबूल करने को तैयार नहीं. यहां तक कि कुछ लोग उन नव-मुस्लिमों से हाथ तक नहीं मिलाते. क्योंकि उनके ख़्याल के मुताबिक़ उनके हाथ सूअर की चर्बी से गंदे हो चुके हैं.

तिनको अब्दुर्रहमान लिखते हैं : Today I am fighting alone battle to get these Muslim converts accepted into the Malaya Community." (आज मैं उन नव-मुस्लिमों को मलाया के मुस्लिम समाज में शामिल करने के लिये एक तन्हा जंग लड़ रहा हूं....) 'इस्लामिक हैराल्ड, क्वालालंपुर, दिसंबर, ७५'.

तिनको अब्दुर्रहमान अपने राजनीतिक जीवन के ज़माने में मलयेशिया के सर्वप्रिय व्यक्ति थे. मगर जब उन्होंने राजनीति की हंगामी ज़िंदगी को छोड़ कर रचनात्मक काम शुरू किया तो वे अब महसूस करते हैं कि वह तन्हा हैं. उनका साथ देने वाला कोई नहीं.

आज के ज़माने में यही हाल सारी दुनिया के मुसलमानों का है. वह किसी नेता का साथ सिर्फ़ उस वक़्त तक देते हैं, जब तक वह उन्हें भावनात्मक राजनीति की शराब पिलाता रहता है. ख़ामोश और रचनात्मक काम करने वालों का साथ देने के लिये उनमें न हौसला है, न ऐसी प्रवृत्ति. इस समस्या का एक मात्र समाधान यह है कि हमारे बीच से कुछ नेता ऐसे निकलें जो इज़्ज़त और शोहरत की कुर्बानी पर अपने आपको ख़ामोश रचनात्मक कामों में लगा दें. जब नेताओं की एक नस्ल अपने आपको गुमनामी के क़ब्रिस्तान में दफ़न कर चुकी होगी, उसके बाद ही यह संभव है कि मिल्लत को वास्तविक अर्थों में दुनिया के अंदर इज़्ज़त और सिरबुलंदी का मुक़ाम हासिल हो. अगर हमारे नेता शोहरत और इज़्ज़त की हवाओं पर उड़ रहे हों और अवाम को रचनात्मक काम का भाषण सुनाएं, तो यह काम कभी अंजाम नहीं पा सकता.

क़दम उठाने से पहले शोध ज़रूरी है

उसमान बिन अफ़्फ़ान रज़ि अल्लाहो अन्हू २४ हिज्री में ख़लीफ़ा चुने गये और ३५ हिज्री में आपको शहीद कर दिया गया. उस वक़्त आपकी उम्र ८२ साल थी. इमाम मुस्लिम हज़रत आयशा रज़ि० से रवायत करते हैं कि रसूलुल्लाह सल्लल्लाहो अलैहि वसल्लम आपके मकान में लेटे हुए थे. आपकी पिंडलियां खुली हुई थी? इतने में अबू बकर रज़ि० आए, आप उसी हाल में लेटे रहे और बातें की. फिर उमर रज़ि० आए अब भी उसी तरह लेटे रहे और बातें की. मगर उसमान आए तो आप उठ गये और अपने कपड़े को ठीक किया. आपने उसमान रज़ि० से फ़रमाया फ़रिश्ते भी हया करते हैं.

इमाम तिरमिज़ी अब्दुर्रहमान बिन ख़बाब रज़ि० के हवाले से रवायत है कि मैं उस वक़्त मदीने में नबी सल्लल्लाहो अलैहि वसल्लम के पास मौजूद था कि आप दुबैश-ए-असरा (तबूक) की तैयारी के लिये लोगों को उभार रहे थे. उसमान बिन अफ़्फ़ान खड़े हुए और कहा: 'ऐ ख़ुदा के रसूल एक सौ ऊंट क़जावा और पालान समेत मैं खुदा की राह में देता हूं' आपने फिर लोगों को उभारा. उसमान बिन अफ़्फ़ान दोबारा खड़े हुए और कहा - 'दो सौ ऊंट क़जावा और पालान के साथ अल्लाह के रास्ते में देता हूं.' आपने फिर लोगों को उभारा. उसमान बिन अफ़्फ़ान तीसरी बार खड़े हुए कहा - 'ऐ ख़ुदा के रसूल तीन सौ ऊंट कजाव़ा और पालान समेत अल्लाह की राह में.' रावी (इतिहासकार) कहते हैं कि मैंने देखा कि रसूलुल्लाह सल्लल्लाहो अलैहि वसल्लम मिम्बर से उतर पड़े और आपकी ज़ुबान पर यह कलिमा जारी था : 'इसके बाद उसमान जो भी करें उनपर कोई

चार्ज नहीं, इसके बाद उसमान जो भी करें उसपर कोई पूछताछ नहीं.

इमाम तिरमिज़ी अनस बिन मालिक के हवाले से लिखते हैं – 'हुदैबिया में जब रिज़वान की बैयत हुई, उस वक़्त उसमान बिन अफ़्फ़ान रसूलुल्लाह के विशेष दूत की हैसियत से मक्का गये हुए थे. जब तमाम लोग बैअत हो चुके तो रसूल-ए-अकरम सल्लल्लाहो अलैहि वसल्लम ने फ़रमयाय : 'उसमान इस वक़्त अल्लाह और रसूल के काम पर हैं.' फिर अपने एक हाथ को दूसरे हाथ पर मारा और खुद अपने एक हाथ से अपने दूसरे हाथ पर उसमान के लिये बैअत की : बस उसमान के लिये रसूलुल्लाह का हाथ लोगों के लिये उनके अपने हाथ से बेहतर था.'

इमाम तिरमिज़ी मिर्रा बिन कअब से रवायत करते हैं कि रसूलुल्लाह सल्लल्लाहो अलैहि वसल्लम ने फ़ितनों का हाल आया बयान किया जो आपके बाद आएंगे, इतने में एक साहब सामने गुज़रे जो कपड़ा लपेटे हुए थे – आपने कहा: 'मैं उठकर उनके पास गया तो मालूम हुआ कि वह उसमान बिन अफ़्फ़ान हैं (तिरमिज़ी). हज़रत उसमान ने अपनी पूंजी से मुश्किल वक़्तो में इतनी ज़्यादा इस्लाम की मदद की है कि रसूलुल्लाह ने फ़रमाया – ऐ अल्लाह मैं उसमान से राज़ी हूं. तू भी उससे राज़ी हो जा, ऐ अल्लाह मैं उसमान से राज़ी हूं तू भी उससे राज़ी हो जा.' एक बार हज़रत उसमान की पवित्र भावना और उनके बलिदान से आप इतने खुश हुए कि दुआ का यह कलिमा दिन भर आपकी ज़ुबान से निकलता रहा.

हालांकि यही उसमान बिन अफ़्फ़ान थे, जिनके खिलाफ़ उनकी ख़िलाफ़त के बाद के वर्षों में तमाम इस्लामी देशों में हंगामा खड़ा हो गया था इस हंगामा आराई में व्यवहार कुशल और मुक़द्दस लोग भी शरीक थे. यह हंगामा इतना बढ़ा कि हज़ारों की तादाद में बलवाई विभिन्न देशों से जमा होकर मदीने में घुस गये. उन्होंने हज़रत उसमान के मकान को घेर लिया और आपके घर में पानी का प्रवेश बंद कर दिया. यहां तक कि आपके लिये मस्जिद-ए-नबवी में जाकर नमाज़ पढ़ना असंभव कर दिया. जब बात बहुत बढ़ गई तो आप अपने छत पर चढ़े और बलवाइयों को संबोधित किया :

'समाया बिन हुज़न अलकशीरी कहते हैं – उसमान बिन अफ़्फ़ान के घेरे के समय मैं उनके घर के पास मौजूद था. वह मकान के ऊपर चढ़े और लोगों से बोले – 'मैं तुमको अल्लाह और इस्लाम की क़सम दिलाता हूं, क्या तुम जानते हो कि रसूलुल्लाह सल्लल्लहो अलैहि वसल्लम हिज़रत कर के मदीना आए और यहां सिर्फ़ एक (यहूदी का) कुंआं बहर-ए-रूमा था जिससे मीठा पानी लिया जा सके. (वह मंहगी क़ीमत पर बेचता था) रसूलुल्लाह ने कहा "कौर बहर-ए-रूमां

को खरीदता है?" कि वह भी उससे पानी ले और मुसलमान भी पानी लें. जन्नत में उसको इससे बेहतर मिलेगा. मैंने ३५ हजार दिरहम के बदले उसे ख़रीदा और तुम मुझको उसी कुंए से पानी पीने से रोकते हो. लोगों ने जवाब दिया खुदाया हां. फिर उसमान बिन अफ़्फ़ान ने कहा : मैं तुम्हें क़सम दिलाता हूं अललह की और इस्लाम की. क्या तुम जानते हो कि मस्जिद-ए-नबवी तंग पड़ गई तो रसूलुल्लाह सल्लल्लाहो अलैहि वसल्लम ने फ़रमाया - 'कौन फलां जमीन को ख़रीद कर मस्जिद को बड़ा करता है?' जन्नत में उसको इससे बेहतर मिलेगा. मैंने उसको अपने माल से ख़रीदा. और तुम मुझको उसमें दो रिकअत नमाज़ पढ़ने से रोकते हो. लोगों ने कहा – 'खुदाया हां.' उसमान बिन अफ़्फ़ान ने कहा – अल्लाहो अक्बर. रब्बे काबा की क़सम, तुम लोग गवाह रहो कि मैं शहीद हूं' इन सब के बावजूद लोगों ने हज़रत उसमान को क़त्ल कर दिया. (तिरमिज़ी, निसाई, दाऊद).

क़त्ल करने वाले और क़ातिलों का साथ देने वाले सबके सब नमाज़ रोज़े के पाबंद थे. और अपने को मुकम्मल मुसलमान समझते थे.

तीसरे ख़लीफ़ा के विरुद्ध इतना बड़ा हंगामा खड़ा होने का क्या कारण था कि उनकी जान तक चली गई. इतिहासकारों के मुताबिक़ यह छोटी सी घटना थी. हज़रत उसमान रजि० की ख़िलाफ़त के बारे में कुछ कारणों से अवाम में नाराज़गी थी. इसी बीच यह हुआ कि मिस्र के आमिल अब्दुल्लाह बिन अबी सरह की ज्यादतियों से मिस्री अवाम को शिकायत हुई. लोग मदीना आए और मांग की कि उसे पदच्युत किया जाये. हज़रत उसमान ने हज़रत अली के मश्विरे से उसे पदच्युत कर दिया और मुहम्मद बिन अब्दुर्रहमान बिन अबी बकर रज़ि० के लिये मिस्र की हुक्मरानी का फ़रमान लिख दिया. मिस्री इस फ़रमान को लेकर अपने मुल्क की तरफ़ रवाना हुए. उनके साथ नये हाकिम मुहम्मद बिन अब्दुर्रहमान भी थे. रास्ते में उन्होंने देखा कि हज़रत उसमान रज़ि० का गुलाम ख़लीफ़ा के ऊंट पर सवार होकर तेज़ी से मिस्र की तरफ़ जा रहा है. मालूम करने पर उसने बताया कि वह ख़लीफ़ा की तरफ़ से एक ख़त लेकर मिस्र के हाकिम अब्दुल्ला बिन सरह के पास जा रहा है. उन्होंने जबरन गुलाम से ख़त छीन लिया. पढ़ा तो लिखा था – 'मुहम्मद और उनके साथी मिस्र पहुंचे तो उन्हें क़त्ल कर दिया जाये और अगले आदेश तक अब्दुल्ला बिन सरह मिस्र का हाकिम रहे.'

यह ख़त हज़रत उसमान के चचाज़ाद भाई मरवान बिन हकम ने लिखा था और ख़िलाफ़त की मुहर लगा कर उसे गुलाम के हाथें मिस्र रवाना कर दिया था. मगर मिस्रियों ने इसको खुद ख़लीफ़ा तृतीय की ओर से भेजा गया ख़त समझा और यह मान बैठे कि उनके साथ ग़द्दारी की गई है कि एक तरफ़ तो अब्दुल्लाह बिन सरह के पदच्युत करने का हुक्नामा हमें दिया गया और दूसरी तरफ़ उसे

ख़ुफ़िया ख़त रवाना कर दिया गया कि इन सब लोगों को क़त्ल करके तुम अपने पद पर बहाल रहो. चुनांचे वह रास्ते से लौट आए और अल्लाहु अकबर के नारों के साथ दोबारा मदीने में दाख़िल हुए. उनकी प्रतिक्रया इतनी तीव्र थी कि किसी के समझाने बुझाने से धीमी न हुई. उन्होंने हज़रत उसमान के मकान को घेर लिया और अंततः उन्हें क़त्ल कर डाला. इसी लिये क़ुरआन में कहा गया है कि जब कोई ख़बर मिले तो उस पर कार्रवाई करने से पहने ख़ूब खोजबीन कर लो:

> 'ऐ ईमान वालो! कोई शरीफ़ आदमी तुम्हारे पास ख़बर लाये तो ख़ूब तहक़ीक़ (शोध) कर लो. ऐसा न हो कि तुम नादानी से किसी क़ौम पर जा पड़े और फिर तुमको अपने किए कर्म पर पछताना पड़े. 'हिजरात, ६'.

इस आयत के नाज़िल होने की शान यह है कि रसूलुल्लाह ने वलीद बिन उक़बा बिन अबी मोईत को बनी उलमुस्तलक़ क़बीले से ज़कात वसूल करने के लिये भेजा. क़बीले के लोग उनकी आने की ख़बर पर उनके स्वागत में बाहर निकले. वलीद को इस क़बीले से पुराने जमाने (जाहिलियत के दौर) की शिकायत थी. वह समझे कि क़बीले वाले उनके क़त्ल को निकले हैं. इस लिये वह बस्ती में दाख़िल होने से डर गये और वापस चले आये और रसूलुल्लाह से कहा कि क़बीले के लोग मेरे क़त्ल को आ गये और ज़कात देने से इन्कार कर दिया. आपने इरादा किया उनका सर तोड़ने के लिये हज़रत ख़ालिद के नेतृत्व में एक फ़ौजी दस्ता रवाना करें. इसी बीच क़बीले बनी अलमुस्तलक़ के सरदार हारिस बिन ज़र्रार आ गये जो उम्मुल मोमिनीन ज़वेरिया रज़ि० के वालिद भी थे. उन्होंने बताया कि हमने ज़कात जमा कर रखी थी. मगर वलीद बिन उक़बा हमारे यहां पहुंचे ही नहीं. हम तो इस्लाम पर क़ायम हैं और अल्लाह के अधिकार अदा करने को तैयार हैं (इब्ने कसीर). इसी पर हुक्म दिया गया कि जब किसी के बारे में कोई ख़बर मिले तो कार्रवाई करने से पहले पूरी छान-फटक कर लो. ऐसा न हो कि ख़बर ग़लत हो और उसी आधार पर तुम ग़लत क़दम उठा बैठो.

मतभेद का नुक़सान कहां तक?

अरब के जज़ीरानुमा से इस्लाम का जो सैलाब उठा था, वह आस-पास के तमाम मुल्कों पर इस तरह छाया कि उनकी भाषा और तहज़ीब (संस्कृति) तक बदल गयी, इसमें से एक अपवाद है 'ईरान'. यह इतिहास का एक अहम सवाल है कि वह इस्लाम जिसने अपने तमाम पडोसी देशों की भाषा और संस्कृति बदल दी, वह ईरान में मज़हबी परिवर्तन की सीमा तक कामयाब होने के बावजूद वहां

की भाषा को क्यों न बदल सका?

इस सवाल का जवाब हमें उमैया ख़ानदान और अब्बासी ख़ान्दान की राजनीतिक लड़ाई में मिलता है. उमैया ख़िलाफ़त की जगह अब्बासी ख़िलाफ़त क़ायम करने का आंदोलन दूसरी सदी हिजरी में शुरू हुआ. इसमें एक तरफ़ वह लोग थे जो राजनीतिक लक्ष्य साधना चाहते थे. इसके सरदार मुहम्मह बिन अली बिन अब्दुल्लाह बिन अब्बास बिन अब्दुल मुतल्लिब थे. दूसरी तरफ़ मज़हबी लोग थे जो सुधार की भावना के तहत इस मुहिम में शामिल हो गये. अब्दुल्लाह बिन मुहम्मद बिन हनफ़िया बिन अली बिन अबी तालिब का संबंध इसी दूसरे गिरोह से था. मुहम्मद बिन अली के लड़के इब्राहीम हैं जो १२४ हिज्री में अपने वालिद की मौत के बाद इस 'आंदोलन' के नेता चुने गये – अबु मुस्लिम खुरासानी जिसने अब्बासी सल्तनत की स्थापने में प्रमुख भूमिका अदा की है, एक मामूली मज़दूर था जो चारजामा सीने का काम करता था. उसके ज़बर्दस्त व्यक्तित्व और असाधरण क्षमता को देखकर इमाम इब्राहीम ने उसे अपने काम के लिये चुन कर अपना नायक बनाया और खुरासान भेज दिया.

जब अब्बासियों को वर्चस्व प्राप्त हुआ तो उन्होंने चुन-चुन कर उमैया ख़ान्दान और पक्ष के लोगों को क़त्ल करना शुरू किया, ताकि भविष्य में उनकी राजनीतिक सत्ता को चुनौती देने वाला कोई बाक़ी ही न रहे. उस ज़माने में इमाम इब्राहीम ने अबु मुस्लिम को ताकीद के साथ लिखा कि – 'खुरासान में किसी अरबी बोलने वाले को जिंदा न रखना.' खुरासान में उमैया ख़ान्दान के पक्षधर वही अरब क़बीले वाले थे जो खुरासान की फ़तह के बाद वहां जाकर बस गये थे. इनके अलावा जो खुरासानी बाशिंदे थे, वह सब नव-मुस्लिम थे और आसानी से अब्बासी सत्ता को क़ुबूल कर सकते थे. जबकि अरब क़बीलों से यह अंदेशा था उनकी अरब वादिता उन्हें उमैया ख़ान्दान का हामी बनाकर नयी सत्ता के लिये एक मसला बना देगी.

अबु मुस्लिम ईरानी नस्ल के होने के कारण खुद भी अपने मुल्क में अरब निवाससियों के शोषण का महत्वकांक्षी था. इमाम इब्राहीम की हिदायत पाने के बाद वह पूरी तरह इस मनपसंद मुहिम में सरगर्म हो गया. उसने खुरासान में आबाद सारे अरब प्रवासियों का एक तरफ़ से सफ़ाया कर दिया. यह अरबी क़बीले जो उस वक़्त खुरासान में आबाद थे, दूसरे पड़ोसी मुल्कों की तरह यहां की भाषा, सामाजिक सभ्याता को अर्बी बनाने में लगे हुए थे. चूंकि उन्होंने इस देश के लोगों का धर्म बदलने में कामयाबी हासिल कर ली थी और भाषा तथा संस्कृति को बदलने का काम हो रहा था. मगर अबु मुस्लिम द्वारा उनके क़त्लेआम के बाद यह अमल यकायक रुक गया. ईरानी भाषा और सभ्यता मरते-मरते दुबारा ज़ी उठी. ईरान

व खुरासान जो मिस्र, शाम और इराक़ की तरह आज अरब दुनिया का हिस्सा होता, दुबारा फ़ारसी मुल्क बन गया.

इतिहास में अक्सर ऐसा होता है कि राजनीतिक महत्वकांक्षियों की राजनीतिबाज़ी के कारण आवश्यक रचनात्मक काम रुक गये हैं, जिसके नतीजे बाद में बहुत ख़राब तौर पर बरामद हुए. चंद लोगों के क्षणिक लक्ष्य की क़ीमत क़ौमों और मुल्कों को सदियो तक भयानक रूप में चुकानी पड़ी हैं.

इतिहास पर छाया हुआ पारिवारिक झगड़ा

क़ादसिया के युद्ध (१४ हिज्री) में जब दोनों सेनाएं एक दूसरे के सामने खड़ी थीं ईरानी लश्कर से उनका एक मशहूर पहलवान घोड़ों पर सवार होकर निकला. इस्लामी लश्कर से आसिम बिन अम्र उसके मुक़ाबले के लिये बाहर आये. अभी एक ही दो वार हुए थे कि ईरानी सवार भागा. आसिम बिन अम्र ने उसका पीछा किया. वह अपनी सेना की प्रथम पंक्ति के पास पहुंच चुका था कि आसिम ने वहां पहुंचकर पहलवान के घेड़े की दुम पकड़ी और उसे रोक लिया. सवार को उसके घेड़े से उतार कर अपने घेड़े पर बिठाया और ज़बर्दस्ती उसे अपने साथ अपनी सेना तक ले आए.

इस तरह के बहादुर जंग-ए-सिफ़्फ़ीन और जमल (३६ हिज्री) की आपसी लड़ाइयों में ९० हजार की संख्या में कट गये. हक़ीक़त यह है कि अगर खिलाफ़त-ए-राशिदा के अंत में आपसी लड़ाईयां शुरू न हुई होतीं तो ताक़त और शक्ति का जो बेपनाह सैलाब अरब से उठा था एशिया, अफ़्रीक़ा और युरोप के तमाम इलाक़ों को 'तौहीद' का इलाक़ा बना देता. सिर्फ़ आस्टरेलिया और अमरीका ही संभवतया इससे बचे रह जाते जो व्यापक समुंदर के दूसरी तरफ़ उस ज़माने में क़ब्ज़े के लिये नामुमकिन ख़्वाब थे.

वह क्या चीज़ थी, जिसने इस सैलाब को बाहर के बजाये ख़ुद अपनी तरफ़ मोड़ दिया. यह कहना सही होगा कि एक ख़ानदानी झगड़ा था जिसने बढ़कर क़ौमी या मुल्की झगड़े की शक्ल ले ली और अंततः सारी इस्लामी तारीख़ पर छा गया. सन २०७ ई० में सैल-ए-एरम से यमन में तबाही आई. यहां के बाशिंदे अपना वतन छोड़ कर दूसरे इलाक़ों में जा बसे. उनमें से क़बीला 'रिवज़ाआ' मक्का आया और हज़रत इस्माईल (२०७४-१९३७ ईसा पूर्व) की औलाद को बेदख़ल करके मक्का पर क़ाबिज़ हो गया. क़सी बिन कुलाब पहला व्यक्ति था, जिसने कुरैश क़बीले की बिखरी हुई शक्ति को पुनः संगठित किया और ४४० ई० में लड़ भिड़कर (रिवज़ाआ) से मक्का की सरदारी छीन ली.

क़सी ने ख़ाना-ए-काबा की मरम्मत की. रिक़ादा, सक़ाया, हिज़ाबा और

क़िमादा पद स्थापित किए, क़ौमी निशान के तौर पर 'लवा-ए-बिनाया' (राष्ट्रीय एसेम्बली) क़ायम की जिसे दारूलनदवा कहा जाता था. इसके बाद प्राकृतिक रूप से क़सी को तमाम कुरैश क़बीले की सरदारी हासिल हो गई.

क़सी के बाद कुरैश की सरदारी उनकी औलादों को मिलती रही. हालांकि तीसरी नस्ल में क़सी के ख़ान्दान में सरदारी पर झगड़ा शुरू हो गया था. क़सी का पोता हाशिम बहुत योग्य और शान्दार व्यक्ति था. उसने व्यापार करके न सिर्फ़ अपनी पूंजी बढ़ाई बल्कि पूरे कुरैश क़बीले को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारियों का दर्जा दिलाया. उसने अपने भाइयों की मदद से शाह ग़सान, शाह हब्शा, यमन के अमीरगण और इराक़ व फ़ारस की हुकूमतों से व्यापार संधियां कीं, और विशेष रिआयतें प्राप्त कीं. वह रोम के शाह से यह परवाना हासिल करने में कामयाब हो गया कि कुरैश का व्यापारिक माल शाम और फ़िलिस्तीन में बिना किसी कर के दाख़िल होता रहेगा. अब कुरैश के व्यापारिक क़ाफ़ले गर्मी के ज़माने में शाम की तरफ़ जाने लगे, क्योंकि वह ठंडा और सिंचित इलाक़ा था और सर्दियों में यमन की तरफ़ यात्रा करने लगे, जो कि गर्म इलाक़ा था (कुरैश-२). हाशिम की तदबीरों से कुरैश का अर्थवाद बहुत तेज़ी से बढ़ा और सारे अन्य क़बीलों में भी उनकी महानता सिद्ध हो गयी.

हाशिम की तरक़्क़ी ने वंश के दूसरे परिवारों में ईर्ष्या पैदा कर दी. हाशिम के भाई अब्दुल शम्स और उनसे ज़्यादा उनके बेटे उमैया को हाशिम की सरदारी नापसंद थी. उमैया ने अपने चचा से सरदारी छीनने की कई कोशिशें कीं मगर नाकाम रहे. यहां तक कि इसी दुख में उन्होंने मक्का छोड़कर शाम में घर बसाया और दस वर्षों तक वहां पड़े रहे.

हाशिम के बाद दुबारा उनके बेटे अब्दुल मुत्तल्बि आनी प्रतिभा और क्षमता के आधार पर कुरैश के सरदार हुए, मगर उमैया की औलाद इससे वंचित रही. इस तरह सरदारी क़सी की हाशमी शाख़ा में चलती रही और उमैया शाख़ा तरस्ती रही.

८, हिजरी में जब रसूलुल्लाह सल्लल्लाहो अलैहि वसल्लम दस हज़ार मित्र सेना के साथ मक्का विजय अभियान पर रवाना हुए तो आपने एक मौक़े पर अपने चचा अब्बास से कहा कि अबु सुफ़ियान को लेकर रास्ते में किसी घाटी पर बैठ जाएं ताकि अबू सुफ़ियान, जो बद्र के बाद कुरैश के सबसे बड़े लीडर थे, इस्लामी फ़ौज को गुज़रते हुए दुखें. हज़रत अब्बास ने ऐसा ही किया, जब वह अबू सुफ़ियान को लेकर एक तंग पहाड़ी रास्ते की तरफ़ गये और वहां बैठने के लिये कहा तो अबू सुफ़ियान को अंदेशा हुआ. उनकी ज़ुबान से बेसाख़्ता निकला: ऐ हाशिम वंश वाले क्या ग़द्दारी का इरादा है!' उसके बाद जब दस हज़ार सेना उनके सामने से गुज़री तो अबु सुफ़ियान भयाक्रांत हो गये. उन्होंने कहा – 'तुम्हारे भतीजे की

हुकूमत आज बहुत अज़ीम हो गई.'

अब्दे मनाफ़ के वंश में यह चपकलश इतनी बढ़ी हुई थी कि अशिक्षा काल में यमन का एक शख़्स कुछ सौदा लेकर मक्का आया. एक व्यक्ति ने उसका सौदा लिया मगर न क़ीमत दी, न सौदा वापस किया बल्कि एक टीले पर चढ़कर चीख़ने लगा. यह घटना अरब वालों की आन के बिलकुल ख़िलाफ़ था. इस लिये हाशिम वंश वाले सौदागर की मदद को उठे. उन्होंने आपस में संकल्प किया था कि अगर मक्का में किसी अजनबी या मुसाफ़िर को सताया गया तो वह मज़लूम की पूरी मदद करेंगे. इस संकल्प संधि में बनू-हाशिम के अलावा बनु-अहद और बनु-ज़हरा के साथ बनु-तैम भी थे. मगर अब्दुल शम्स का ख़ानदान ईर्ष्या के कारण उनके साथ इस संधि में शामिल न हुआ. इस तरह की घटनाएं जो इतिहास में दर्ज हैं वह बनु-हाशिम और बनु-उमैया के बीच पारिवारिक कश्मकश का प्रमाण हैं.

क़सी बिन कुलाब के ख़ानदान की दो शाख़ाओं में सरदारी को लेकर ईर्ष्या और भीतरी दुश्मनी जारी रही. यहां तक कि हाशिम के परिवार में पैग़ंबर-ए-इस्लाम पैदा हुए, तो उमैया परिवार की जलन अपनी चरम स्थिति पर पहुंच गई. पहले उन्होंने नबूवत (पैगंबरी) का विरोध कर के हाशिम परिवार को ज़ेर करना चाहा फिर जब पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने तमाम दुश्मनों को पराजित करके मक्का पर क़ब्ज़ा करने में कामयाबी हासिल कर ली तो स्पष्ट हो गया कि नबूवत का विरोध फ़िज़ूल है. अबू सुफ़ियान, उनके लड़के मुआविया और अन्य उमैया वंश वालों ने इस्लाम कुबूल कर लिया. जबकि यह एहसास लोगों में बाक़ी रहा कि नबूवत के बाद राजनीतिक सत्ता हाशिम वंश के हाथ में न जाने देंगे.

हज़रत उमर रजि० अपने बाद हज़रत अली बिन अबी तालिब रज़ि० को ख़िलाफ़त के लिये उपयुक्त व्यक्ति समझते थे. लेकिन शायद इसी भय से वह हज़रत अली को नामांकित न कर सके. हज़रत उसमान जो उमैया परिवार की शाख़ा से संबंधित थे उनकी शहादत के बाद जब हज़रत अली को ख़लीफ़ा बनाया गया तो यह उमैया परिवार के लिये बिल्कुल असह्य था. हज़रत उसमान की शाहादत के बाद क़सास (हत्या की सज़ा) के मसले ने उन्हें तुरंत एक कामयाब राजनीतिक हथकंडा दे दिया. इस भावनात्मक नारे के सहारे हज़रत मुआविया ने मुसलमानों की एक बहुत बड़ी भीड़ अपने गिर्द इकट्ठी कर ली. हालांकि वे चौथे ख़लीफ़ा को ख़िलाफ़त के पद से हटाने में कामयाब न हो सके लेकिन मुआविया बिन अबु सुफ़ियान बिन हिरब बिन उमैया ने अपनी गवर्नरी से लाभ उठाकर इस्लामी महादेश के आधे से ज़्यादा हिस्से को राजनीतिक रूप से काट लिया. उन्होंने हज़रत उसमान की शहादत के नाम पर ऐसी आग भड़काई कि कुछ लोगों ने जुनून में आकर हज़रत अली रजि० को भी क़त्ल कर दिया. जंग-ए-जमल और जंग-ए-सिफ़्फ़ीन जिसमें ९०* हजार मुसलमान कट गये थे और दस साल के लिये इस्लामी विस्तारण का

सिलसिला रुक गया था वह दरअसल इसी उमैया और हाशमी ख़ानदान की लड़ाई की पृष्ठभूमि थी, जिसने पूरी मुस्लिम उम्मत को आनी लपेट में लिया.

हसन बिन अली इस राज़ को अच्छी तरह समझते थे. यही कारण था कि वह अमीर मुआविया के हक़ में ख़िलाफ़त के हक़ से अलग हो गये. उन्होंने अपने छोटे भाई हुसैन बिन अली को भी मश्विरा दिया कि ख़िलाफ़त के मामले से बिल्कुल अलग हो जाएं, क्योंकि लोग इसके लिये तैयार नहीं हैं कि नबूवत और ख़िलाफ़त दोनों को अलवी ख़ानदान में जमा होना सह लें. मगर हज़रत हुसैन की राय यह थी कि हक़ के लिये जान दे देना बातिल (झूठ) के आगे सिर झुकाने से ज़्यादा बेहतर है. उन्होंने ख़िलाफ़त की राह में अपनी जान दे दी. यह घटना सन ६१, हिज्री की है.

इसके बाद उमैया हुकूमत क़ायम हो गयी. मगर उमैया परिवार को हाशिम परिवार से जो बोग़्ज़ (ईर्ष्या) व जलन थी वह उनकी सत्ता में प्रबंध व्यवस्था में ज़ाहिर होती रही. यहां तक कि उन्होंने हाशिम की औलादों का ख़ात्मा करने की मानसिकता बना ली, ताकि भविष्य में ख़िलाफ़त का कोई दावा बाक़ी न रहे. इसी कारण से वह माहौल न बन सका जिसमें बनु-हाशिम अपनी राजनीतिक अधि कारहन्ता को भूल जाते. अंदर-अंदर उनके दिल में विरोध की आग सुलगती रही. यहां तक कि १३२ हिज्री की समाप्ति ने यह दूसरा इन्क़लाब देखा कि बनु-अब्बास ने ईरानियों की मदद से उमैया ख़ानदान को विनष्ट कर दिया.

उमैया परिवार का फ़ितना बहुत ही गहरा था और संपूर्ण तथा राजनीतिक था. इसलिये राजनीति के साथ उसका ख़ात्मा हो गया. मगर हाशिम परिवार से यह जवाबी ग़लती हुई कि ख़िलाफ़त को अपना हक़ साबित करने के लिये उन्होंने ख़िलाफ़त को आस्था का मसला बना दिया. इस ग़लती ने एक सियासी मामले को मज़हबी हैसियत दे दी और इस संभावना को हमेशा के लिये ख़त्म कर दिया कि दूसरे सियासी झगड़ों की तरह यह झगड़ा सिर्फ़ वक़्ती नुक़सान पहुंचाये और बाद की पीढ़ियों के लिये मात्र इतिहास का विषय बन कर रह जाये.

राजनीति को मज़हब बनाने की इस ग़लती ने इस्लाम को जो नुक़सान पहुंचाया है, उनकी गिनती असंभव है. मिसाल के तौर पर हदीस गढ़ने का फ़ितना सबसे पहले इसी आंदोलन के तहत शुरू हुआ. बेशुमार हदीसें दोनों तरफ़ से गढ़ी गईं: एक तरफ़ बनु-हाशिम ने हज़रत अली की फ़ज़ीलत में निकाली यह हदीस: 'मैं इल्म का शहर हूं, और अली उसका दरवाज़ा हैं.'

दूसरी तरफ़ दूसरे पक्ष ने एक रवायत गढ़ी कि पूरी हदीस दरअस्ल इस तरह है: 'मैं इल्म का शहर हूं, अबू बकर उसकी बुनियाद हैं, उमर उसकी दीवार हैं, उसमान उसकी छत हैं, और अली उसका दरवाजा हैं.'

इस तरह की बातों से इस्लाम को जो व्यवहारिक नुक़सान पहुंचा अब उसे दूर करना संभव नहीं. यद्यपि यह अल्लाह का बहुत बड़ा फ़ज़्ल है कि उसने अपनी ख़ास रहमत से कुरआन को महफ़ूज़ कर दिया. अगर ऐसा न होता तो इन झगड़ों और उनके पैदा किये हुए फ़ितनों में सच्चा दीन (मज़हब) गुम हो जाता और अल्लाह के बंदे क़यामत तक के लिये स्वार्थहीन सत्य जानने से वंचित रह जाते.

इतिहास की तमाम कामयाबियां आपसी इत्तिफ़ाक़ का नतीजा हैं और नाकामियां आपसी मतभेद का नतीजा. इंसान चाहे व्यक्तिगत रूप से नेक और व्यवहार कुशल क्यों न हो, उनमें एक दूसरे से शिकायत पैदा होना स्वाभविक है. किसी न किसी कारण से और कभी-कभी अकारण भी दो व्यक्ति या दो गिरोहों में मतभेद पैदा हो जाता है. इस लिये इत्तिहाद की एक मात्र स्थिति यह है कि मतभेद सहन किया जाये. क्योंकि मतभेद से ख़ाली मानव समाज इस धरती पर संभव नहीं. वही लोग कोई बड़ा काम करते हैं जो व्यक्तिगत मामलों पर राष्ट्रीय मामलों को तरजीह देते हैं, जो खुद को इतना ऊपर उठा चुके हों कि मतभेद की बातों को नज़र अंदाज करके व्यवहारिक एकता पर क़ायम रहें. ऐसे लोगों के लिये कोई रुकावट रुकावट नहीं बनती. किसी दुश्मन की साज़िश या अदावत उन्हें नुक़सान नहीं पहुंचा पाती. उनकी हर हालत में एकता के प्रतिबद्धता एक ऐसी शक्ति बन जाती है जो हर संभावित स्थिति से निमटने की निश्चित ज़मानत होता है.

इसके प्रतिकूल जो लोग व्यक्तिगत शिकायतों से ऊपर उठकर सोचना न जानते हों, जो व्याक्तिगत मतभेदों को सामूहिक स्वार्थ पर कुर्बान न कर सकें, वह कभी कोई बड़ा काम नहीं कर सकते. उनकी कोशिशें या तो सीमित होकर रह जाती हैं या खुद अपने भाइयों को नुक़सान पहुंचाने में इस्तेमाल होती हैं. ऐसे लोग अपने साधन और अवसरों को अपने अंदुरूनी झगड़ों में बर्बाद करते रहते हैं. उनके अंदर हमेशा ऐसे कमज़ोर गोशे बाक़ी रहते हैं जहां से उनका दुश्मन उनके अंदर घुस आए और उनके बारे में अपनी ख़तरनाक योजना को पूरा कर सके – यह मतभेद की राजनीति तब और घातक हो जाती है जब उसे आस्था बना लिया जाये. राजनीतिक मतभेद कभी न कभी ख़त्म हो जाता है, मगर उसे जब आस्था के मतभेद का दर्जा दे दिया जाये तो उसके ख़त्म होने की कोई सूरत नहीं. यहां तक कि खुदा खुद ज़ाहिर होकर फ़ैसला फ़रमा दे.

दो ऐतिहासिक अनुभव

सुलेमान बिन अब्दुल मलिक '९९ हिज्री' की मनक़बत के लिये यह काफ़ी है कि उसने ख़िलाफ़त-ए-राशिदा की चमकदार सूची में पांचवें ख़लीफ़ा-ए-राशिदा 'उमर बिन अब्दूल अज़ीज़' की वृद्धि की. मगर अजीब बात है कि उसी उमैया हुक्मरान के हिस्से में इतिहास उन घटनाओं को भी दर्ज करता है, जिनका आख़िरी नतीजा उन दो महान हादसे के रूप में बरामद हुआ जिनमें से एक का नाम स्पेन और दूसरे का नाम हिंदुस्तान है. अगर सुलैमान बिन अब्दूल मलिक ने स्पेन में तारिक़ को और हिन्दुस्तान में मुहम्मद बिन क़ासिम को पदच्युत करके वापस न बुलाया होता तो शायद इन दोनो देशों का इतिहास उससे भिन्न नज़र आता जो इन दोनों के बाद हमें नज़र आता है.

स्पेन में क्या हुआ?

सुलैमान बिन अब्दुल मलिक ने ख़िलाफ़त की गद्दी पर बैठने के बाद पहला काम यह किया कि महज़ एक व्यक्तिगत शिकायत के आधार पर अफ़्रीक़ा के गवर्नर मूसा बिन नसीर और उसके सेनानायक तारिक़ बिन ज़ियाद (स्पेन विजेता) को उनके पदों से उन्हें मुक्त करके उन्हें वापस बुला लिया. पहले को कैद्र और दूसरे को नज़रबंद कर दिया गया. इसका प्राकृतिक नतीजा यह हुआ कि स्पेन की मुस्लिम हुकूमत और केंद्रीय ख़िलाफ़त सत्ता के बीच शुरू में ही प्रतिद्वंदात्मक भावनाएं पैदा हो गई. १३२ हिज्री में जब एक रक्त क्रांति के बाद दमिश्क़ की उमैया सल्तनत ख़त्म हुई और नये दारुल ख़िलाफ़ा बग़दाद में अब्बासी ख़िलाफ़त क़ायम हुई तो उमैया परिवार का एक लुटा हुआ शहज़ादा अब्दुर्रहमान अर दाख़िल स्पेन पहुंचा और वहां के हालात से फ़ायदा उठाकर स्पेन में अपनी हुकूमत क़ायम कर ली. बनु उमैया के एक व्यक्ति की यह कामयाबी अब्बासियों के लिये बर्दाश्त से बाहर थी. इस तरह स्पेन और ख़िलाफ़त केंद्र के दरमियान दुश्मनी की एक और वजह पैदा हो गई और नतीजे में आपसी टकरावों का ऐसा सिलसिला चला जो स्पेन में मुस्लिम सल्तनत के साथ ही समाप्त हो सका.

केंद्रीय ख़िलाफ़त और स्पेन में दुश्मनी यहां तक बढ़ गयी कि जिस ख़िलाफ़त ने तारिक़ बिन ज़ियाद को भारी मदद देकर स्पेन की मुहिम पर रवाना किया था. उसी ख़िलाफ़त ने फ़्रांस के बादशाह शार्लिमेन को उकसाया कि वह स्पेन पर हमला करे. नतीजा यह हुआ कि स्पेन में एक साधारण गृहयुद्ध और बग़ावत की स्थिति पैदा हो गयी. हर इलाक़े का गवर्नर ख़ुदमुख़्तारी का ख़्वाब देखने लगा. अमीर-ए-क़रतबा के रिश्तेदारों ने इस नाज़ुक वक़्त को स्पेन के ताज-वो-तख़्त

के लिये साज़िश करने का सुनहरा मौक़ा समझा. स्थानीय ईसाइयों को शह मिली कि वह बाग़ी मुसलमानों को साथ लेकर हर जगह हंगामा पैदा करते रहें. स्पेन की उमैया ख़िलाफ़त के बाद मुल्क छोटी-छोटी रियासतों में बंट गया, जिन्होंने क़रतबा, अश्बीलिया, ग़रनाता, तलीतला और मालका वगैरह शहरों को अपनी-अपनी राजधानी बना लिया.

तारिक़ बिन ज़ियाद (९२ हिज्री) ७११ ई० में स्पेन में दाख़िल हुआ था और (८९७ हिज्री) १४९२ ई० में स्पेन से मुस्लिम सत्ता का ख़ात्मा हो गया. आठ सौ बरस की इस तवील अवधि का कोई दिन ऐसा नहीं गुज़रा जो बग़ावतों और हंगामों से ख़ाली हो. यह सच्चाई है कि स्पेन को अक्सर बहुत लायक़ हुक्मरां मिले. न्याय के ऐतिबार से भी और सभ्यता व राजनीति के ऐतिबार से भी. बेशक उन लोगों ने मुश्किल हालात के बावजूद सभ्यता और राजनीति के ऐतिबार से स्पेन में एक महान इतिहास रचा. मगर घरेलू हालात और केंद्रीय ख़िलाफ़त की शह पर देश की ईसाई रिआया निरन्तर बग़ावतों पर लगी रहती थी, जिसके कारण वह माहौल न बन सका जिसमें उस अहमतरीन काम की बुनियाद पड़ती, जिसके लिये इस्लाम ने विस्तारवाद का रास्ता अपनाया. यानी 'दीन' (मज़हब) के प्रसार का काम. अरब और उसके पड़ौसी देश जिस अवधि में मुकम्मल तौर पर इस्लामी आबादी के देश बन गये उससे बहुत ज़्यादा अवधि का मौक़ा मिलने के बावजूद स्पेन इस्लामी आबादी का मुल्क न बन सका.

स्पेन में मुस्लिम हुकूमत की मिसाल तक़रीबन वैसी है जैसे आजादी से क़बल हिंदुस्तान में अंग्रेजों की हुकूमत थी. अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान में अपने सौ वर्षीय सत्ताकाल में देश को ज़बर्दस्त सभ्यता के विकास से मालामाल किया. हालांकि उन्होंने वह ग़लती नहीं की जो स्पेन में मुसलमानों ने की थी, उन्होंने सारे मुल्क में ईसाई मिश्नरियों का जाल बिछा दिया और उन्हें बेपनाह सुविधाएं दीं. मगर मसीही मज़हब में इतनी ताक़त न थी कि वह इस मुल्क की आबादी को अपनी आस्थाओं से जोड़ लेता. नतीजा यह हुआ कि जब हिन्दुस्तान से अंग्रेज़ों की हवा उखड़ी तो आलीशान इमारतें और बड़े-बड़े पुल उनके काम न आ सके और उन्हें हिन्दुस्तान छोड़कर इंगलिस्तान वापस जाना पड़ा.

तारिक़ बिन ज़ियाद ने जिस इस्लामी जज़्बे के तहत स्पेन की ज़मीन पर क़दम रखा था अगर वह जारी रहता और वहां स्थिर हुकूमत की परंपरा स्थापित होती तो स्पेन में मुसलमानों के सिवा किसी का वजूद न होता. दरिया पार करने के बाद अपनी एक लंबी दुआ में उसने अपने इस संकल्प को दुहराया था कि वह इस मुल्क को कुफ़्र और शिर्क से मुक्त करके इस्लाम का गहवारा बना देना चाहता है. मुस्लिम स्पेन के प्रारंभिक इतिहास में हम देखते हैं कि ईसाई कसरत से इस्लाम

क़ुबूल कर रहे हैं. मगर कुछ ही बरस बाद वहां की सियासत का रुख़ इस तरह बदला कि मज़हब की तबलीग़ का काम पिछड़ गया. १३२ हिज्री में जब केंद्रीय ख़िलाफ़त में तब्दीली हुई और बनू-उमैया की जगह बनू-अब्बास की सल्तनत क़ायम हुई तो उस ज़ेहन को सिंचन मिला. क्योंकि अब्बासियों को सभ्यता, संस्कृति और कलात्मक शिक्षा के विकास में जितनी दिलचस्पी थी उतनी दीन के प्रसार में नहीं थी. इस तरह बग़दाद के प्रभाव से क़रतबा संस्कृति और कलात्मक शिक्षा का केंद्र बन गया मगर वह मज़हब के प्रचार का केंद्र न बन सका.

चुनांचे स्पेन में जब हालात बदले तो वहां के मुस्लिम अल्पसंख्यकों पर ईसाई बहुसंख्यकों का वर्चस्व बन गया और अलहुमरा का बेमिसाल महल मुसलमानों के कुछ काम न आ सका. चूंकि आम आबादी में ईसाइयों का वर्चस्व हासिल था इस लिये ९०४ हिज्री में क़रतबा पर कब्ज़ा करने के बाद जब मुसलमानों के खिलाफ़ मार-काट शुरू हुई तो उनके लिये वहां छिपने की भी कोई जगह नहीं थी. ईसाइयों ने संपूर्ण वर्चस्व पाते ही तमाम मुल्क में अपनी धार्मिक अदालतें क़ायम कर दीं, जिनमें हर रोज़ हज़ारों मुसलमान गिरफ़्तार करके लाये जाते और रतह-तरह के झूठे आरोप लगा कर आग में जला दिये जाते. ९०४ हिज्री में एक आम हुक्म जारी किया गया कि हर वह शख़्स जो मुसलमान है वह ईसाई मज़हब क़ुबूल कर ले वर्ना जहां उसे पाया जायेगा उसे क़त्ल कर दिया जायेगा. कुछ मुसलमान जहाज़ों पर सवार होकर अफ़्रीक़ा के लिये रवाना हुए मगर उनको अफ़्रीक़ी तट तक पहुंचने से पहले ही समुंदर में डुबो कर मार डाला गया. आख़िरकार कोई एक भी तौहीद परस्त स्पेन की धरती पर बाक़ी न रहा. ईसाइयों ने मुसलमानो को या तो तलवार के घाट उतार दिया, समुंदर में डुबो दिया या आग में जला डाला.

दो

चार ख़लीफ़ा के बाद इस्लामी हुकूमत बनु-उमैया के हाथ में चली गयी. जिसके संस्थापक अमीर मुआविया (मृत्यु ६० हिज्री) थे. इस सिलसिल-ए-हुकूमत का पांचवां बादशाह अब्दुल मलिक बिन मरवान था, जिसकी ८६ हिज्री में मौत हो गई – मरने से पहले उसने अपने दोनों बेटों वलीद और सुलैमान को युवराज नियुक्त किया. उसने तमाम सूबों के गवर्नरों और आमिलों के नाम फ़रमान जारी किया कि ईद-उल-फ़ित्र की जमाअत में एक शव्वाल ८६ हिज्री को वलीद और सुलैमान की वली अहदी के लिये बैयत ली जाये. चुनांचे तमाम इस्लामी देशों में निश्चित तिथि पर इन दोनों के लिये बैयत ली गई. यही अवसर था जबकि मदीना के मशहूर मुहदिदस सईद बिन मुसीब को बैयत से इन्कार करने पर दुर्रे (कोड़े) लगाए गये.

अब्दुल मलिक बिन मरवान (२३-८६ हिज्री) के निधन के बाद जब उसका बड़ा लड़का वलीद तख़्त पर बैठा तो उसने यह कोशिश शुरू की कि अपने बाद तख़्त की विरासत अपने भाई (सुलैमान) के बजाये अपने बेटे अब्दुल अज़ीज़ की तरफ़ स्थानांतरित कर दे. वलीद बिन अब्दुल मलिक ने पहले अपने भाई सुलैमान को लिखा कि वह स्वंय वली अहदी से पीछे हट जाये. जब सुलैमान इसके लिये तैयार न हुआ तो उसने दूसरी तदबीर की. उसने अपने देश के सभी प्रमुख अधिाकारियों प्रसिद्ध लोगों को अपने पक्ष में तैयार किया और तय किया कि एक रोज़ किसी ख़ास जलसे या भीड़ के मौक़े पर तमाम इस्लामी देशों में सुलैमान की वली अहदी की मंसूख़ी का ऐलान कर दिया जायेगा और उसके बजाये अब्दुल अज़ीज़ बिल वलीद की वली अहदी पर लोगों से बैयत ले ली जायेगी.

मगर इस योजना के पूरा होने से पहले १५ जमादी-उल-सानी ९६ हिज्री (फ़रवरी ८१५ ई०) को उसकी भी मौत हो गई. वलीद बिन अब्दुल मलिक के निधन के बाद सुलैमान बिन अब्दुल मलिक तख़्तनशीन हुआ तो कुदरती तौर पर वह उन सरदारों का दुश्मन बन गया जिन्होंने उसे सत्ता से बेदख़ल करने की साज़िश में उसके भाई वलीद का साथ दिया था. उन्हीं में से एक हज्जाज बिन यूसुफ़ था जो पूरब के इस्लामी देशों का वाइसराय था और पश्चिमी देशों का वइसराय मूसा बिन नसीर. हज्जाज का मुख्यालय इराक़ था और मूसा बिन नसीर का क़ैरवान. इन दोनों ने वलीद की योजना की हिमायत की थी इस लिये दोनों सूलैमान की नज़र में वह बदतरीन दुश्मन थे जिनसे सबसे पहले निमटना नये हुक्मरान के लिये ज़रूरी था.

हज्जाज, सूलैमान बिन अब्दुल मलिक की सत्तासीनता से आठ महीना पहले शव्वाल ९५ हिज्री में ही मर चुका था. इस लिये उसकी जगह उसके रिश्तेदार सुलैमान की इंतक़ामी भावना का निशाना बने. उन रिश्तेदार दुश्मनों की हिट लिस्ट का पहला नाम हज्जाज के चचेरे भई और दामाद मुहम्मद बिन क़ासिम का था, जिसने सिंध (वर्तमान पाकिस्तान) में असाधारण विजय अभियान में कामयाबी हासिल की थी और हज्जाज की प्रसिद्धी में वृद्धि का प्रमुख आधार बना था.

मुहम्मद बिन क़ासिम बहुत ऊंचे दर्जे की क़ाबिलियत रखने वाला सिपहसालार था. एक इतिहासकार के शब्दों में – 'उसने सिंध और हिन्दुस्तान की विजय में एक तरफ़ ख़ुद को रूस्तम और सिकंदर से ज़्यादा बड़ा बहादुर साबित किया तो दूसरी तरफ़ नौशेरवान-ए-आदिल से बढ़कर न्यायप्रिय मुंसिफ़ और अवाम परवर सिद्ध हुआ.' यह नौजवान विजयी सरदार सिंध और पंजाब में इतनी तेज़ी से घुस रहा था और बस्तियों की बस्तियां उसके प्रभाव से इस तरह इस्लाम के दायरे में आती चली जा रही थीं कि ऐसा लगता था जैसे जल्द ही सारा इलाक़ा

इस्लामी इलाक़ा बन जायेगा.

हिन्दुस्तान की मुहिम पर मुहम्मद बिन क़ासिम को हज्जाज बिन यूसुफ़ ने ही रवाना किया था. इसके लिये हज्जाज ने कितना एहतिमाम किया था उसकी मिसाल इस तरह मिलती है :

१. हज्जाज ने अन्य साज़ो सामान के अलावा ३० हज़ार दीनार ख़ास तौर पर मुहम्मद बिन क़ासिम को दिया था, ताकि ज़रूरत पर काम आ सके (मीर मासूम). कहा जाता है कि इस अभियान पर कुल छह करोड़ दिरहम खर्च हुए थे.

२. भेजे गये सामानों में क़ासिम के लिये सिरका भी था. क्योंकि अरब की आदत के मुताबिक़ खाने में इसकी ज़रूरत होती थी. हज्जाज ने क़ासिम के साथ बहुत सी रूई सिरका में भिगोकर और सुखा कर भेजा और लिखा कि जब सिरका खाने का मन करे तो पानी मे रूई को निचोड़ लेना.

३. हज्जाज ने क़ासिम को पांच 'मनजनीकें' (एक ऐसा यंत्र जिससे बड़ी-बड़ी शिलाएं और पत्थर के टुकड़े दूर-दूर सेना पर फेंके जाते थे) भेजी थीं. जो बहुत भारी होने के कारण खुश्की के बजाये पानी के रास्ते से जहाज़ पर लदवा कर सिंध के साहिल पर उतरवाया गया. उस एक 'मनजनीक़' को चलाने के लिये पांच सौ आदमी की ज़रूरत होती थी.

४. इस पूरी मुहिम के दौरान हज्जाज और मुहम्मद बिन क़ासिम के बीच डाक-संपर्क बना रहा. हज्जाज बसरा में था और क़ासिम सिंध में. मगर व्यवस्था यह थी कि हर तीसरे दिन एक ख़त हज्जाज लिखता था और उसी तरह क़ासिम भी व्यस्तता के बावजूद हर तीसरे दिन विस्तृत रिपोर्ट लिखता था. डाक भेजने के लिये इस तरह की व्यवस्था की गई थी कि सिंध और बसरा के बीच हज़ारों मील की दूरी के बावजूद एक दूसरे का पत्र एक दूरे को हर सातवें दिन मिल जाता था.

मुहम्मद बिन क़ासिम ने ९५ हिज्री में मुल्तान जीत लिया. अब पूरा सिंध उसके क़ब्जे में था. अरब सागर से कश्मीर सीमा तक राजाओं और सरदारों ने इस्लाम की अज़मत को तसलीम कर लिया था. अब उसने पूरी एशिया में इस्लाम के विस्तारण का मंसूबा बनाया और क़न्नौज की तरफ़ कूच करना शुरू किया. उसका विचार था कि क़न्नौज पर क़ब्जा करने के बाद शेष इलाक़ों को जीतने का दरवाज़ा खुल जायेगा. मगर ९६ हिज्री में सुलैमान बिन अब्दुल मलिक ने तख़्त पर बैठने के बाद जब हज्जाज के रिश्तेदारो से इंतक़ामी कार्रवाई के तहत बदला लेना शुरू किया तो क़ासिम को बुला भेजा. उसने अब तक हज्जाज के बाद यज़ीद बिन मुहलिब को इराक़ का गवर्नर मुक़र्रर किया और मज़हब से ख़ारिज एक व्यक्ति स्वालिह

बिन अब्दुर्रहमान को ख़िराज वसूल करने की सेवा पर नियुक्त किया था. ये दोनों हज्जाज के बड़े दुश्मनों में थे. चुनांचे सुलैमान के आदेश पर इन दोनों ने अक़ील की नस्ल (हज्जाज के वंश) के लोगों को ढूँढ-ढूँढ कर क़त्ल करना शुरू किया.

दूसरी तरफ़ सुलैमान ने क़ासिम को सिंध की गवर्नरी से पदच्युत करने का आदेश दिया. इसका कारण सिर्फ़ यह था कि क़ासिम हज्जाज का रिश्तेदार भाई और दामाद था, जिसे मारकर वह अपने इंतक़ाम की आग ठंडा कर सकता था. सुलैमान ने क़ासिम के बदले यज़ीद बिन अबी कब्शा को सिंध का गवर्नर नियुक्त किया. नया हाकिम दरबार-ए-ख़िलाफ़त का हुक्म लेकर सिंध पहुंचा. उसने क़ासिम को गिरफ़्तार किया और मुजरिमों की तरह उसे टाट के कपड़े पहनाये. हाथ-पांव में बेड़ियां डालीं और मुआविया बिन मुहलिब की हिरासत में उसे इराक़ रवाना किया. यह भी क़ासिम की सआदतमंदी (भलमनसाहत) थी, वरना सिंध में वह इतना लोकप्रिय था कि ख़लीफ़ा के हुक्म से बग़ावत करके खुद यज़ीद और मुआविया बिन मुहलिब को गिरफ़्तार कर सकता था.

किताब 'फ़तूह-उल-बलदान' के मुताबिक़ अरबी का यह मशहूर शेर उसी वक़्त क़ासिम की ज़ुबान पर जारी हुआ – लोगों ने मुझे बर्बाद कर दिया और कैसे जवान को बर्बाद किया वह जो मुसीबत के दिन काम आए, और कैसे जवान को बर्बाद किया वह जो मुसीबत के दिन काम आए और सरहदों को सुरक्षित रखे.

उसके बाद मुहम्मद बिन क़ासिम को दमिश्क़ ले जाया गया. वहां सुलैमाल के हुक्म से वह बासित के जेलख़ाने में क़ैद कर दिया गया. उस पर जेल के दारोग़ा की हैसियत से स्वालिह बिन अब्दुर्रहमान मुसल्लत था, जिसने उसे जेल में तरह-तरह की तकलीफ़ें देकर मार डाला.

एक इतिहासकार इन घटनाओं को बयान करते हुए लिखता है: 'अगर वलीद बिन अब्दुल मलिक की जिंदगी कुछ रोज़ और वफ़ा करती या सुलैमान ही अक़्ल से काम लेकर क़ासिम को छोड़ देता तो शायद ऐशिया का इतिहास आज कुछ और होता.'

यही इतिहासकार आगे लिखता है -'मुहम्मद बिन क़ासिम के ज़माने में खुदा की मख़लूक कसरत से इस्लाम कुबूल करती जा रही थी. 'दीन' के तबलीग़ की जो सच्ची और सही कोशिश उसने चंद दिनों में करके दिखा दी, बाद की बड़ी-बड़ी सल्तनतें सदियों में भी न कर सकीं. उस नौजवान सेनानायक ने कुछ दिनों के सत्ताकाल में जो गहरा प्रभाव डाल दिया था वह प्रभाव पठानों और मुग़लों की सल्तनतें पांच सौ बरस में भी मुल्क पर नहीं डाल सकीं. सिंध के अलावा तमाम बाक़ी मुल्क में आज मुसलमानों की तादाद पहले से ज़्यादा है, मगर मुल्क पर कोई प्रभाव नहीं रखते. मगर फिर भी सिंध में आज भी मुसलमानों की तादाद

बहुत है और वे वर्चस्व में हैं. यह मुहम्मद बिन क़ासिम की देन है.

तातारी विद्रोह क्या था?

मुस्लिम दुनिया पर तातारियों का हमला सातवीं सदी हिज्री के रबीउल अव्वल में हुआ. उस वक़्त बग़दाद की गद्दी पर नासिर लदीनुल्लाह का क़ब्ज़ा था और खुरासान में ख़्वारज़म शाह की हुकूमत थी. दोनों में राजनीतिक मतभेद पैदा हो गया. तातारियों के हाथ से मुस्लिम दुनिया की ग़ारतगरी इन्हीं दोनों मुस्लिम रहनुमाओं के आपसी मतभेद के नतीजे में घटित हुई. खुरासान की सल्तनत हालांकि एक आज़ाद सल्तनत थी. लेकिन वहां बग़दाद के ख़लीफ़ा का ख़ुतबा पढ़ा जाता था. ख़्वारज़म शाह के दिल में यह ख़्वाहिश पैदा हुई कि वह नासिर लदीनुल्लाह की हुकूमत के एक सरहदी इलाक़े इराक़ को काटकर अपने इलाक़े में शामिल कर ले. उसने अपने देश में नासिर लदीनुल्लाह का ख़ुतबा बंद करवा दिया. नासिर इस ख़बर से बहुत नाराज़ हुआ. उसने जवाब में लड़ाकू तातारियों के क़बीले को वरग़ला कर ख़्वारज़म शाह पर हमला करा दिया. यह तदबीर आगे चल कर पूरी मुस्लिम दुनिया के लिये एक अज़ाब प्रमाणित हुई. तातारी जब ख़्वारज़म शाह पर फ़तह पा चुके तो उन्होंने नासिर लदीनुल्लाह की सल्तनत पर भी हमला कर दिया और अंततः दोनों को बर्बाद कर डाला.

ख़्वारज़म शाह को २१ साल हुकूमत करने का मौक़ा मिला और नासिर लदीनुल्लाह को ४६ साल. उसके बाद दोनों में से हर एक उसी क़ब्र में लेट गया जिसमें वह अपने भाई को लिटाना चाहता था – इतिहास का यह सबक़ भी कितना इबरत अंगेज है. मगर अजीब बात है कि कोई इससे सबक़ नहीं लेता. हर शख़्स जिसे मौक़ा मिलता है पहली फ़ुर्सत में उसी इतिहसा को दुहराता है जो ख़्वारज़म शाह और नासिर लदीनुल्लाह की घटना के रूप में हमेशा के लिये नाकाम हो चुकी है, और आख़िरत में नाकाम तरीन शक्ल में सामने आने वाली है.

१०९५ से लेकर १२७५ ई० तक युरोप की ईसाई क़ौमों ने इस्लामी हुकूमतों पर आठ ज़बर्दस्त आक्रमण किए. ये हमले पश्चिमी दिशा से होते थे और इनका मक़सद 'मुक़द्दस मुक़ामात' (स्थलों) को ईसाई क़ब्जे में लेना था. मगर दो सौ वर्षीय जंग इस तरह ख़त्म हुई कि अंततः येरूशलम मुसलमानों के क़ब्जे में ही रहा. उसी ज़माने में १२२० ई० में तातारियों (मुग़लों) ने इस्लामी सत्ता केंद्र पर हमला किया और इतने कामयाब हुए कि सारी दुनिया-ए-इस्लाम को ऊपर-नीचे कर डाला. वह चीन की उत्तरी पहाड़ों से चंगेज़ खां के नेतृत्व में निकले और तुर्किस्तान, मावरा, उन्नहर, खुरासान, आज़रबाईजान, असफ़हान, अफ़ग़ानिस्तान,

फ़ारस, इराक़, शाम ऐशिय-ए-कूचक, रूस और आस्टरीया तक तमाम मुल्कों को लूटमार और क़त्लो ग़ारत का क़ब्रिस्तान बना दिया. इतिहासकार इब्ने असीर जो उस ज़माने का चश्मदीद गवाह है. उस ज़माने की घटनाएं ब्यान करता है, तो उसके क़लम से यह शब्द निकलते हैं :

'कौन है जिसके लिये आसान हो कि इस्लाम और मुसलमानों के नरसंहार की दास्तान लिखे. और कौन है, जिसके लिये इसका ज़िक्र आसान हो. काश मेरी मां ने मुझे जन्म न दिया होता और काश मैं इससे पहले मर गया और ख़त्म हो गया होता. अगर कोई कहे कि जब आदम पैदा किये गये उस वक़्त से लेकर अब तक ऐसा हादसा मानवता पर नहीं हुआ तो यक़ीनन वह सच होगा.'

सुल्तान सलाहुद्दीन अयूबी (११३७-११९३ ई०) की मौत के बाद बीस साल से भी कम अर्से में इतनी बड़ी दुर्घटना इस्लामी दुनिया पर क्यों पेश आई. कुछ लोग इस सिलसिले में तातारियों की खूंरेज़ी और बर्बरता का हवाला देना काफ़ी समझते हैं. मगर इतिहास बताता है कि हुक्मरान क़ौमें हमेशा बर्बर दुश्मनों के घेरे में रहती हैं. कोई न कोई 'तातार' मुसलमानों के लिये हमेशा मौजूद रहा है. फिर उसे तेरहवीं सदी ईसवी के प्रारंभ में ही यह शान्दार कामयाबी कैसे हासिल हुई? हालांकि यह वह वक़्त था जबकि इस्लामी सल्तनतों की व्यापकता, उसकी निरंतर विजय, उसकी हथियारों और सांस्कृतिक उन्नति और उसके मुक़ाबले में युरोपी क़ौमों की इबरतनाक पस्पाई (भयंकर पराजय) ने इतनी धाक बिठा दी थी कि कोई राजनीतिक हौसलामंद सल्तनत-ए-इस्लामी की तरफ़ आँख उठाकर देखने की भी हिम्मत मुश्किल से ही कर सकता था. तातारी हमले की घटना वेल्मी ख़लीफ़ा नासिर लदीनुल्लाह (५५३-६२२ हिज्री) के ज़माने में हुआ. प्रसिद्ध इतिहासकार 'इब्ने असीर' ख़लीफ़ा नसीर का समकालीन था. वह तातारियों की खूंरेज़ी बयान करते हुए लिखता है: —'जब वह किसी शहर या गांव से गुज़रते तो उसके बाशिंदों पर अपनी तलवार नंगी कर देते और बड़े, छोटे, औरत, मर्द सबको क़त्ल कर डालते. पूरब के तमाम इलाक़े उनके जरायम (अपराधों) से भर गये.'

इब्ने असीर ने ६१७ हि० (१२२० ई०) की घटनाओं के नीचे लिखा है: —'इस्लामी क़ौमों पर तातारियों के भयंकर आक्रमण का कारण ख़्वारज़म शाह की यह बेहूदा हरकत थी कि उसने तातारियों की जमाअत को क़त्ल कर दिया और उनकी संपत्ति छीन ली, जो कि उसके देश में व्यापार करने के लिये आए थे.'

यही क़िस्सा विभिन्न रूपों में मशहूर हुआ है जिसमें तातारी फ़साद की ज़िम्मेदारी ख़्वारज़म शाह (६१७ हि०) पर डाली गई है. लेकिन इतिहास के गहरे अध्ययन से यह बात सही नज़र नहीं आती. आश्चर्यनक बात यह है कि खुद

इतिहासकार इब्ने असीर ने दूसरे मौक़े पर एक और बात लिखी है: – 'तातारियों के हमले का इसके सिवा दूसरा कारण भी बयान किया गया है, जिसे लिखा नहीं जा सकता, जो हुआ वह हुआ. अब मैं उसे बयान नहीं करूंगा. तुम अच्छा गुमान कर लो और कारण मत पूछो' (अल-कामिल-भाग ९, पृष्ठ ३३१).

इब्ने असीर के इस बयान से साफ़ ज़ाहिर होता है कि वह राजनीतिक कारणों से असली हक़ीक़त को छुपा रहा है. मगर यह इतिहास का सौभाग्य था कि इब्ने असीर के जीवनकाल में ही वह राजनीतिक रुकावट ख़त्म हो गई और बाद के 'दफ़्तर' में वह उसे दर्ज करने के लिये जिंदा रहा. तातारी हमला ६१७ हि० में हुआ और ख़लीफ़ा नासिर लदीनुल्लाह की मौत ६२२ में. इब्ने असीर में उपरोक्त वाक्य ६१७ हि० की घटनाओं के फुटनोट्स में लिखे थे. नासिर लदीनुल्लाह के इंतक़ाल के बाद जब वह ६२२ हिज्री की घटनाओं के फुटनोट के लिये ख़लीफ़ा के हालात लिखने बैठा तो उसने अपनी ऐतिहासिक किताब में निम्नलिखित शब्द जोड़े: – 'अगर वह कारण सही हो जो अजमी लोग नासिर लदीनुल्लाह की तरफ़ जोड़ कर बताते हैं, यानी वही था जिसने तातारियों को हमले पर उकसाया और इस सिलसिले में उनके पास पैग़ाम भेजा तो वह ऐसी क़यामत थी जिसके आगे हर बड़ा गुनाह एक ज़र्रा है.'

उस्ताद अहमद हाफ़िज़ (लेखक: किताबुद्दौलतुल ख़्वार-ए-ज़मीया वल मग़ोल) ने इस अवसर पर यह लिखा है: – 'इसका स्पष्ट मतलब यह है कि इब्ने असीर जो कि मुग़लों के हमले और ख़लीफ़ा नासिर लदीनुल्लाह के समकालीन हैं, ख़लीफ़ा की मौत से पहले सविस्तार यह कहने की जुर्रत न कर सके थे कि मुग़लों को बुलाने वाला खुद ख़लीफ़ा नासिर लदीनुल्लाह था. इस हक़ीक़त को उन्होंने ख़लीफ़ा की मौत के बाद जुर्रत और विस्तार से बयान किया.'

इब्ने कसीर ने अपनी किताब 'अल-बिदाया-वन-निहाया' में इब्ने असीर के कथन को दुहराया है और उस पर कोई जिरह या संशोधन नहीं किया (भाग १३, पृष्ठ १०७) अबु लज-फ़िदाअ ने अपने इतिहास में इसकी पुष्टी करते हुए लिखा है

"ख़लीफ़ा नासिर लदीनुल्लाह की तरफ़ यह बात जोड़ दी गई है कि वही है, जिसने तातारियों को लिखा और उनको हमला करने के लिए उकसाया ताकि ख़्वारज़्म शाह उसके मुक़ाबले में व्यस्त हो जाए और इराक़ की तरफ़ कूच का इरादा न करे" (भाग ३, पृष्ठ १३६).

इसी तरह 'मकरीज़ी' ने अपनी किताब 'अल-सुलूक-उल मा'रिफ़ा दूलुलमलूक' में इसकी पुष्टि की है. वह ख़लीफ़ा नासिर लदीनुल्लाह की मौत के बारे में लिखता है : "नासिर लदीनुल्लाह की ख़िलाफ़त के ज़माने में तातारियों

ने इस्लामी दुनिया के पूर्वी क्षेत्र में ग़ारतगरी की. यहां तक कि 'हमदान' जा पहुंचे. इसका कारण खुद यही ख़लीफ़ा था. उसने तातारियों को लिखा कि वे इस्लामी केंद्रीय नियंत्रित सत्ताधारी इलाक़ों में घुस आएं. यह उसने सुल्तान अलाउद्दीन ख़्वारज़म शाह के खौफ़ से किया था, क्योंकि वह बग़दाद पर क़ब्जे का इरादा कर रहा था और चाहता था कि बग़दाद को ही अपनी राजधानी बनाये.'

ख़लीफ़ा नासिर लदीनुल्लाह ने तक़रीबन सत्तर (७०) वर्ष की उम्र पाई. वह ५७५ हिज्री में तख़्त पर बैठा और ४६ साल तक हुक्मरान रहा. आख़िर उम्र में उसे प्राण घातक पेचिश हो गयी. उसकी दृष्टि चली गयी, वह अंधा हो गया और उसी हाल में रमज़ानुल मुबारक ६२२ हिज्री (१२२५ ई०) की आख़री रात को मर गया. तातारी अपने इस विद्रोह में पहले ख़्वारज़म शाह पर हमलावर हुए तथा खुरासान और जबल रियासत को उसके क़ब्जे से छीन लिया, उसके बाद चंगेज ख़ां (११६२ से १२२७ ई०) के नेतृत्व में इरानिया और शरवान पर क़ाबिज हो गये. ख्वारज़म शाह तातारियों से पराजित होकर तबरस्तान के किसी मुक़ाम पर चला गया और २१ वर्षीय हुकूमत के बाद ६१७ हिज्री में मर गया. तातारियों का एक गिरोह ग़ज़नी सजिस्तान, करमान वग़ैरह की तरफ़ निकल गया. ख़्वारज़म शाह को पराजित करने के बाद तातारियों ने उसके बेटे जलालुद्दीन बिन ख्वारज़म शाह को ग़ज़नी में पराजित किया. चंगेज़ खां उस गिरोह का पीछा करते हुए सिंध तक चला गया, जिसका नेता जलालुद्दनी बिन ख़्वारज़म शाह था. जलालुद्दीन सिंध की नदी को पार करके हिन्दुस्तान में दाख़िल हो गया. कुछ रोज हिन्दुस्तान में रहकर ६२२ हिज्री में फिर खूजिस्तान और इराक़ की तरफ़ जा निकला, मगर रास्ते में उसने आज़रबैजान और आरमीनिया पर कब्ज़ा कर लिया. मगर मुजफ़्फ़र के हाथ से मारा गया. उसके बाद तातारियों का टिड्डी दल नासिर लदीनुल्लाह की हुकूमत की तरफ़ बढ़ा. और उस टिड्डी दल ने ही पूरी इस्लामी दुनिया को क़त्लो ग़ारतगरी का क़ब्रिस्तान बना डाला.

नासिर लदीनुल्लाह ने ख़्वारज़म शाह को नीचा दिखाने के लिये जो तदबीर की वह आज भी किसी न किसी शक्ल में जारी है. पहली जंग-ए-अज़ीम के ज़माने में अरबों ने 'तुर्क' ख़िलाफ़त का 'जवा' अपने सिर से उतार फेंकने के लिये अंग्रेजों का साथ दिया. बंगलादेश ने पाकिस्तानी वर्चस्व के ख़िलाफ़ अपनी लड़ाई में एक बाहरी मुल्क को बेहतरीन मददगार (१९७०-७१) पाया. अफ़ग़ानिस्तान में सरदार दाऊद खां की सरकार को ख़त्म करने के लिये वहां के लीडर १९७८ में संयुक्त रूस से मिल गये वग़ैरह-वग़ैरह. इसी तरह आज भी मुस्लिम देश किसी न किसी 'तातारी फ़साद' की शिकारगाह बने हुए हैं. और इन नये तातारियों को जो लोग मुस्लिम देशों में दाख़िले का रास्ता दे रहे हैं वह दुबारा भी खुद मुसलमान ही

हैं जो अपने हरीफ़ प्रतिद्वंदी मुसलमानों को पराजित करने के लिये ग़ैरों को उनके ऊपर चढ़ाए लाते हैं इस राजनीति का नतीजा दुबारा उसी भयानक रूप में सामने आ रहा है जो बारहवीं सदी ईसवी में नासिर लदीनुल्लाह के ज़माने में सामने आया था. इस प्रकार की राजनीति में न सिर्फ़ मिल्लत की बेहतर संभावनाएं बर्बाद होती हैं बल्कि वह दोनों पक्ष के लिए समान रूप से घातक हैं. जो लोग अपने मुसलमान भाइयों की जिद में ग़ैरों को अपनी सफ़ों में शामिल करते हैं, वह जब आते हैं, तो सिर्फ़ उनके माने हुए दुश्मनों को ख़त्म नहीं करते बल्कि बाहरी दरअंदाज़ी की यह सियासत बिल आख़िर ख़ुद उनके लिये भी घातक सिद्ध होती है. वह ख़ुद भी बहुत जल्द इसी बिखराववादी और अलगाववादी ताजनीति का शिकार हो जाते हैं, जिसका शिकार वह अपने प्रतिद्वंदी मुसलमान को बनाना चाहते हैं, या जताना चाहते थे. बंगलादेश के शेख मुजीबुर्रहमान का क़त्ल (१९७५) और अफ़गानिस्तान के कर्नल अब्दुल क़ादिर (१९७८) की (Purge) ततहीर इसकी ताज़ा मिसालें हैं.

संयुक्त मोर्चा की राजनीति

यह दूसरी सदी हिज्री के मध्य की घटना है. लोग उमैया वंश के ज़ुल्मों से तंग आ चुके थे और हर सुबह-शाम एक नयी हुकूमत की प्रतीक्षा करते रहते थे, जिसकी एक रवायत के मुताबिक़ आप हुज़ूर सल्लल्लाहो अलैहि वसल्लम ने भविष्यवाणी की थी. दूसरी तरफ़ हाशमी (या अब्बासी) वंश के कुछ लोग उमैया वंश के खंडहर पर अपनी शाही इमारत उठाने का सपना देख रहे थे. इस हालात ने एक तरफ़ अवाम और दूसरी तरफ़ अब्बासी जांबाज़ों के लिये एक साझा बिन्दु उप्लब्ध किया था – उमैया वंश का ख़ातमा. हालांकि मज़लूम अवाम के लिए इसके प्रेरणा स्रोत और थे और अब्बासियों के लिये कुछ और. इस साझे संघर्ष के नतीजे में १३२ हिज्री में उमैया वंश के ख़िलाफ़त सिलसिले का ख़ात्मा हो गया और 'सफ़ाह' गद्दी पर बैठा, जो अब्बासियों का पहला ख़लीफ़ा था. 'सफ़ाह' के बाद उसका भाई अबू जाफ़र मंसूर ख़लीफ़ा की गद्दी पर बैठा. १३६ हिज्री में उसके हाथ पर बैयत हुई. उमैया वंश के आख़िरी ज़माने में जो लोग उनके ख़िलाफ़ आंदोलन चला रहे थे; उनमें मुहम्मद बिन अब्दुल्लाह (नफ़्स ज़कीया) और उनके भाई इब्राहीम बिन अब्दुल्लाह ख़ास तौर पर मशहूर हैं. यह लोग इमाम हसन इब्ने अली की औलाद में से थे.

अब्बासी वंश जो नस्ली कारणों से अपने आपको ख़िलाफ़त का अधिकारी समझते थे और उमैया सल्तनत को ख़त्म करना चाहते थे. जब उन्हें ऊपर लिखित दोनों भइयों की ख़ुफ़िया आंदोलन का ज्ञान हुआ तो वह उनसे मिल गये. यहां

तक कि ख़ुद अलमंसूर (जो बाद में ख़लीफ़ा हुआ) ने नफ़्स ज़कीया के हाथ पर बैयत की. उमैया सल्तनत ख़त्म हुई और उसकी जगह अब्बासी सल्तनत क़ायम हो गई. मगर स्थिति में कोई तब्दीली नहीं आई बल्कि मज़ालिम और ज़्यादा बढ़ गये, यहां तक कि शायर को कहना पड़ा:

ऐ बनी अब्बास अपना ज़ुल्म छोड़ दो, तुम्हारी ग़द्दारी से सीने दाग़दार हो चुके हैं.

इसीलिये नफ़्स ज़कीय और उनके भाई दोनों भूमिगत हो गये और जो 'इन्क़लाबी आंदोलन' पहले वह बनी उमैया के खिलाफ़ चला रहे थे उसे अब बनी अब्बास के खिलाफ़ चलाने लगे. यहां तक कि मौक़ा पाकर उन्होने ख़ुरूज (सल्तनत से बग़ावत) का ऐलान कर दिया और मदीने में अपनी आज़ाद हुकूमत क़ायम कर ली. उसके बाद उसका जो अंजाम हुआ वह यह कि नफ़्स ज़कीय १४५ हिज्री में मारे गये और उनका सर मंसूर के दरबार में पेश किया गया. यह वही मंसूर था जिसने उनके हाथ पर नौजवानी में बैयत की थी.

अब्बासी सल्तनत की स्थापना से पहले नफ़्स ज़कीय आंदोलन और अब्बासी आंदोलन दोनों का साझा दुश्मन एक था. यानी बनु उमैया. मगर जब अब्बासियों ने उमैया को पराजित कर लिया तो स्थिति बदल गयी. अब अब्बासी सल्तनत के लिये नफ़्स ज़कीय दुश्मन हो गये थे, क्योंकि वह अब्बासी सल्तनत से भी मुतमइन नहीं थे. वही मंसूर जो 'इन्क़लाब' के पहले नफ़्स ज़कीय का दोस्त था, अब दुश्मन हो गया था. उसने उनके आंदोलन को ख़त्म करने में इतनी तीव्रता दिखाई कि दो महीने तक लिबास नहीं बदला और बिस्तर पर नहीं सोया. उसे तब तक चैन न आया जब तक उसने उस आंदोलन को समाप्त न कर लिया.

इतिहास का यह अनुभव एक हज़ार साल पहले पेश आ चुका था जो बता रहा था कि विभिन्न प्रेरणा स्रोत रखने वाले लोग जब किसी मक़सद के लिये संयुक्त मोर्चा बनाते हैं, तो इसका फ़ायदा हमेंशा उस पक्ष को हासिल होता है जो ज़्यादा ज़ोर आवर और होशियार हो. मगर अजीब बात है कि इस अनुभव से फ़ायदा नहीं उठाया गया और लोग बार-बार उसी नाकाम तजुर्बे को दुहराते रहे.

जमालुद्दीन अफ़ग़ानी (१८३८-१८९७) ने मिस्र में मिल्लत परस्ती का झंडा ऊंचा किया. उन्होंने इस मक़सद के लिये क़ौम परस्तों की एक संस्था अल-हिज़्बुलवतनी के नाम से क़ायम की जिसकी सदस्य संख्या बहुत ज़्यादा थी. उसमें शेख मुहम्मद अब्दा, सा'द ज़ाग़लोल पाशा, अब्दुल्लाह नईम बे और एहसान बे जैसे मशहूर लोग शामिल थे. मिस्र में जमालुद्दीन अफ़ग़ानी का असर व रूसूख इतना बढ़ा कि वहां की प्रभावी पार्टी जमीयत-ए-मालुसिया ने उनको अपना अध्यक्ष नामांकित किया. यहां तक कि वह वक़्त भी आया जब जमालुद्दीन अफ़ग़ानी

की संस्था का एक खुफिया सदस्य तौफ़ीक पाशा मिस्र की सरकार का वाली बन गया. हालांकि इस कामयाबी में फ्रांस और ब्रिटेन का ज़्यादा हाथ था. इस घटना के बाद जमालुद्दीन अफ़गानी और उनके 'क़ौम परस्त' साथी बहुत खुश हुए. उन्हें नज़र आया कि उनकी पुरानी आरज़ुएं और तमन्नाएं पूरी हो रही हैं. मगर बहुत जल्द मालूम हुआ कि यह महज़ एक मृगतृष्णा (सुराब) थी. – तौफ़ीक़ पाशा ने तख़्त पर बैठते ही जमालुद्दीन अफ़गानी और उनके ख़ास सेवक अबु तुराब को मिस्र से देश निकाला का आदेश दे दिया. तौफ़ीक़ पाशा सैयद जमालुद्दीन अफ़गानी की गुप्त बैठकों में शरीक हो चुका था. उसे अचछी तरह मालूम था कि यह लोग साम्राज्यवाद के कट्टर विरोधी हैं. चूंकि तौफ़ीक़ पाशा को उन्हें साम्राज्यवादी शक्तियों (फ्रांस और ब्रिटेन) के समर्थन से काम करना था. इसलिये उसने मिस्र में उनकी मौजूदगी को हुकूमत के लिये ख़तरा समझा, उसने सेना और पुलिस की कड़ी निगरानी में जमालुद्दीन अफ़ग़ानी और उनके सेवादार को स्विज़ भेज दिया और वहां उन्हें जबरन किश्ती पर सवार करके रवाना कर दिया.

अजीब बात है कि सिर्फ़ आधी सदी बाद उसी हिस्से में ठीक उसी ग़लती को दोबारा बड़ी शक्ल में दुहराया गया. १९५२ में जब मिस्र में शाह फ़ारूक़ की हुकूमत का तख़्ता उलट गया और फ़ौजी अफ़सरों ने देश पर सत्ता क़ायम कर ली, तो एक साहब मुझसे मिले – 'मौलाना..... मिस्र जाने का प्रोग्राम बन रहा है.' उन्होंने बहुत राज़दाराना अंदाज़ में कहा. 'क्यों ख़ैरियत तो है?' मैंने पूछा.

'यह जो मिस्र में इन्क़लाब हुआ है, बज़ाहिर लोग समझते हैं कि यह फ़ौजी इन्क़लाब है. लेकिन हक़ीक़तन अख़वानी इस इन्क़लाब के हीरो हैं. अब मिस्र में अख़वानुल मुस्लिमीन की हुकूमत होगी. मौलाना इसलिए जाना जाहते हैं कि इस नाज़ुक और ऐतिहासिक मौक़े पर अख़वानी लीडरों को नसीहत करें और इस्लामी व्यवस्था बनाने के लिये उन्हें लाभकारी मश्विरे दें.'

यह घटना है मिस्र में जो फ़ौजी अफ़सर इन्क़लाब लाये थे उनमें ऐसे भी थे जिनके संबंध अख़वानुल मुस्लमीन से थे. वे अख़वानी आंदोलन का समर्थन करते थे. यहां तक कि ख़ुद जमाल अब्दुल नासिर के बारे में कहा जाता है कि वे अख़वानियों की सभाओं में शरीक होते थे. तत्कालीन राष्ट्रपति अनवर सादात का बयान है कि फ़ौजी अफ़सरों की 'इन्क़लाबी काउंसिल' ने उन्हें प्रतिनियुक्त किया था कि वे अख़वानियों से संपर्क बनाएं और इन्क़लाबी संघर्ष के सिलसिले में उनका समर्थन प्राप्त करें. चुनांचे जिस रात को शाह फ़ारूक़ की हुकूमत का तख़्ता उलटा गया है. अख़वानी कार्यकर्ता सड़कों पर पहरा देने में मशग़ूल थे. वे उन ख़ुफ़िया बातों के भी राज़दार थे जिनमें शाह फ़ारूक़ को पदच्युत करने की योजना बनाई गई थी.

'जब अख़वानुल मुस्लिमीन और फ़ौजी अफ़सरों के साझे से मिस्र में इन्क़लाब आया था तो क्यों ऐसा हुआ कि फ़ौजी अफ़सरों ने सत्ता में आने के बाद अख़वानियों को ख़त्म कर दिया.' यह सवाल अक्सर लोगों को परेशान करता है. जवाब बिल्कुल साधारण है. यह संयुक्त मंच या 'साझेदारी' उसी तरह की एक ग़लती थी जिसका नमूना ऊपर की मिसालों में आप देख चुके हैं.

शाह फ़ारूक़ की सेना के कुछ जूनियर अफ़सर फ़ारूक़ की क़ब्र के ऊपर अपनी हुक्मरानी का तख़्ता बिछाने का ख़्वाब देख रहे थे. मगर उन्हें अपने सपने को व्यावाहारिक रूप से साकार करने में शक था. दूसरी तरफ़ अख़वानुल मुस्लिमीन मिस्र में इस्लामी तर्ज़ की हुकूमत क़ायम करना चाहते थे. लेकिन उन्हें समझ में नहीं आ रहा था कि किस तरह अपना ख़्वाब पूरा करें. दोनों के रास्ते में रुकावट वास्तव में सिर्फ़ एक चीज़ थी, शाह फ़ारूक़ की हुमूमत. इस स्थिति ने दोनों गिरोहों के लिये एक संयुक्त मोर्चा की कल्पना को यथार्थ का रूप दिया. आपसी मुलाक़ातें और मित्रता शुरू हुई. गुप्त बैठकों में शाह के ख़िलाफ़ योजनाएं बनने लगीं. दोनों ख़ुश हो गये कि मक़सद को हासिल करने का क़रीबी मौक़ा हाथ आ गया. मगर जब हुमूमत बदली तो प्राकृतिक रूप से वह उन लोगों के हाथ में चली गयी जो ज़्यादा होशियार थे और व्यवहारिक रूप से सत्ता के क़रीब थे और इत्तिफ़ाक़ से ये वही लोग थे जिन्हें इस्लामी एकबद्धता से ज़्यादा व्यक्तिगत स्वार्थों की चिंता ने दूसरे पक्ष से उन्हें क़रीब कर दिया था. इन्क़लाब के बाद उन्हें यह महसूस हुआ कि उनकी आरज़ुओं के पूरे होने में जहां पहले शाह फ़ारूक़ की शख़्सियत बाधा थी, वहां अब ये 'प्राचीन मित्र' आकर खड़े हो गए हैं या खड़े हो सकते हैं. समाधान सहज था. पहले के फ़ौजी अफ़सर अब देश के हुक्मरान बन चुके थे. उन्होंने अपने प्राचीन मित्रों को उससे भी ज़्यादा बेदर्दी के साथ उन्हें अपने रास्ते से हटा दिया जिस बेदर्दी का प्रदर्शन उन्होंने शाह फ़ारूक़ को हटाने के लिये किया था.

इसी संयुक्त राजनीति को और ज़्यादा विकृत शक्ल में पाकिस्तान में दुहराया गया. १९५१ में पाकिस्तान में सैनिक इन्क़लाब आया और राष्ट्रपति अययूब का साम्राज्य स्थापित हो गया. यह स्थिति मुल्क के बहुत से लोगों के लिये परेशानकुन थी. उनमें एक तबक़ा 'इस्लामपसंद' लोगों का था, ये लोग पाकिस्तान में इस्लामी व्यवस्था क़ायम करने के झंडा बरदार थे और राष्ट्रपति अय्यूब और उनकी 'बुनियादी जम्हूरियत' उनके नज़दीक इस राह की सबसे बड़ी रुकावट थी. उन्हें भी यही महसूस हो रहा था कि 'बुनियादी जम्हूरियत' के होते हुए वे मुल्क की सत्ता पर क़बज़ा न कर सकेंगे. ज़रूरी है कि सबसे पहले उसे ख़त्म किया जाये. दोनों गिरोह आख़री मंज़िल के बारे में एक दूसरे से भिन्न दृष्टिकोण रखते थे. यद्यपि दोनों महसूस

करते थे कि 'राष्ट्रपति अय्यूब' दोनों के लिए समान बाधा हैं. साझेदारी की इस नकारात्मक बुनियाद ने दोनों को एक संयुक्त राजनीतिक मंच पर ला खड़ा किया. फिर दोनों ने मिलकर देश में वह तूफ़ान मजाया कि खुद मुल्क दो टुकड़े हो गया. यह संयुक्त मोर्चा जो बड़े-बड़े वायदों के साथ बनाया गया था. जब अपने आख़िरी अंजाम को पहुंचा तो मालूम हुआ कि इसका सारा फ़ायदा धर्म निर्पेक्ष और समाजवाद के झंडा बरदारों को मिल रहा है और इस्लाम पसंद गिरोह को इसके सिवा कुछ नहीं मिला कि सारी ताक़त ख़र्च करके सियासत के रेगिस्तान में मलू मामुद हुरा बने रहे.

अब इसी नादान राजनीति को हिन्दुस्तान के मुस्लिम नेताओं ने इस मुल्क में आयात किया. वह संधि की राजनीति के नारे लगा रहे हैं. चुनाव के मौक़े पर वह एक राजनीतिक दल से मिलकर दूसरे दल को पराजित करते हैं. मगर क़ौम अनगिनत साधनों को ख़र्च करने के बाद उनके हिस्से में जो आख़िरी चीज़ आई है, वह यह है कि जब चुनाव के बाद लोग संसद या विधान सभा भवनों क़बज़ा करलें और मंत्री मंडल बना लें तो हमारे लीडर स्टेज पर नमूदार होकर या प्रसे कांफ्रेंस करके यह - रहस्य' खोलें कि जीतने वालों ने हमसे फ़लां फ़लां वादे किए थे जो पूरे नहीं किए गए. १९६६ के चुनाव में संधि राजनीति के नेताओं ने दूसरी पार्टियों के साथ मिल कर रियासतों (राज्यों) में हुक्मरान कांग्रेस को प्राजित किया. १९७७ के चुनाव में इन्दिरा गांधी की प्राजय के बाद एक मुस्लिम नेता ने कहा – 'आज हमने ज़ुल्म का बेड़ा ग़र्क कर दिया.' मगर उन जीतों या विजयों के बावजूद स्थिति आज भी वैसी है, जैसी पहले थी.

समझ में नहीं आता कि एक ही ग़लती को हम कब तक दुहराते रहेंगे. असल राजनीति यह है कि खुद अपने आप को ताक़तवर और स्थायी बनाया जाये. सियासी साझेदारी या संयुक्त मोर्चा हमेशा उस पक्ष या फ़रीक़ के लिये फ़ायदेमंद होता है, जो दूसरों के मुक़ाबले में ज़्यादा फैसलाकुन स्थिति का नियंत्रक हो. भीतरी कमज़ोरी और बिखराव को ठीक करने से पहले संयुक्त मोर्चे की तरफ़ दौड़ना नादानी के सिवा और कुछ नहीं (अगस्त, १९७२).

इस सिलसिले में इस्लाम का उसूल यह है कि जहां तक आंशिक मामलों में सहयोग का संबंध है, इस तरह का सहयोग हर एक से लिआ जा सकता है. यहा तक कि काफ़िर और मुश्रिक से भी. रसूलुल्लाह सल्लल्लाहो अलैहि वसल्लम ने हिज्रत के नाज़ुक सफ़र में अब्दुल्लाह बिन उनैयक़ित को रहनुमा बनाया, जो मुश्रिक था. सफ़वान बिन उमैया आपके साथ गज़व-ए-हुनैन में शरीक हुए. हालांकि उस वक़्त तक वह मुश्रिक थे और अल्लाह पर भी ईमान नहीं लाये थे. इमाम ज़हरी ने लिखा है: 'रसूलुल्लाह सल्लल्लाहो अलैहि वसल्लम ने बाज़ मौक़ों पर

यहूदियों से जंग में मदद ली, तो उन यहूदियो के लिये माल-ए-गनीमत में हिस्सा मुक़र्रर किया.' मगर यह आंशिक और व्यक्तिगत सहायता के उदाहरण है. कुल्ली (संपूर्ण) संघर्ष के सिलसिले में ग़ैरों पर भरोसा नहीं किया जा सकता. ख़ास तौर पर वह संघर्ष जो 'दुराचारी हुक्मरान' को हटा कर उसकी जगह 'सदाचारी हुक्मरान को लाने के लिये किया जाये. इस प्रकार के राजनीतिक संघर्ष तमाम सदाचारी पार्टियां या जमाअतों की अपनी शक्ति की परिधि में होने चाहिये. कोई सदाचारी दल अगर अपने बल पर इन्क़लाब लाने की स्थिति में न हो. तो उसकी ग़ैर राजतीतिक व्यवहारिक परिधि में ही काम करते रहना इससे ज़्यादा बेहतर है कि वह दुराचारी तत्वों के साथ शामिल होकर व्यवहारिक राजरीति के मैदान में कूद पड़े. यह दुराचारी तत्व अपने मिज़ाज के बिना (आधार) पर ऐसा कभी नहीं कर सकते कि दुराचारी हुक्मरान' को बेदख़ल करने के बाद अपने घरों को वापस चले जायें और ख़ाली तख़्त को तमाम सदाचारियों की संयुक्त जमाअत के हवाले कर दें. वह अवश्य यह चाहेंगे कि तख़्त पर ख़ुद क़ब्जा कर लें. उस वक़्त 'संयुक्त मोर्चा' के अंदर आपसी कशमकश शुरू होगी, जो निश्चित रूप से दुराचारी तत्वों के वर्चस्व पर ख़त्म होगी. तमाम इतिहास इस बात का गवाह है.

जब रचनात्मक राजनीति महत्वकाक्षाओं में बदल जाती है

अबु अली मुहम्मद बिन अली बिन मक़ला (२७२-३२८ हिज्री) एक असाधारण प्रतिमा का धनी कलाकार था. उसने प्राचीन अरबी लिपि (कूफ़ा में प्रचिलत लिपि) में संशोधन करके उसको सुंदर और सटीक बनाने में कामयाबी हासिल की. शुरू में वह अब्बासी हुकूमत के एक दफ़्तर में छह दीनार मासिक वेतन पर मुंशी था. फिर उसकी कलात्मकता उसे ख़लीफ़ा के दरबार तक ले गई. यहां उसने इतनी प्रसिद्धी प्राप्त की कि निरन्तर तीन बादशाहों का मंत्री बनता रहा. पहले मक़तदर बिल्लाह अब्बासी (२८२-३२० हि०) का मंत्री हुआ, फिर उसके भई क़ाहिर बिल्लाह (२८८-३२२ हि०) और उसके बाद राज़ी बिल्लाह (२९७-३२९ हि०) का मंत्री बना. ज्ञात है कि मंत्री प्राचीन काल में प्रधानमंत्री ही होता था. क्योंकि बादशाह का सिर्फ़ एक ही मंत्री होता था और उसे सारे अधिकार प्राप्त होते थे. मक़तदर बिल्लाह के प्रारंभिक काल में हामिद बिन अब्बास मंत्री था. उसके साथ उसने अली बिन ईसा-अल-जर्राह को उपमंत्री बनाया तो लोगों को बहुत आश्चर्य हुआ. एक शायर कहता है: *सबसे अजीब बात जो हमने देखी, वह यह कि एक मुल्क में दो वज़ीर हैं.*

इब्ने मक़ला के ये पद उसकी कला के विकास में मददगार हो सकते थे.

अगर वह उन उप्लब्ध अवसरों को किताबत की कला और इस सिलसिले की दूसरी चीज़ों के विकास में लगाता, तो न सिर्फ़ यह कि अरबी लिपि बहुत पहले अपनी मंज़िल को पहुंच जाती बल्कि संभव था कि लिखावट और किताबत के क्षेत्र के बहुत से दूसरे अविष्कार, जो बहुत बाद में सामने आये उसी ज़माने में आ गये होते. मिसाल के तौर पर कागज़ इब्ने मक़ला से आठ सौ वर्ष पहले १०५ ई० में चीन में अविष्कृत हुआ. इसका आविष्कारक साइलोन था, जो इब्ने मक़ला की तरह चीनी शहंशाह होटी का मंत्री था. रूसी तुर्किस्तान में अरबों और चीनियों की जंग में कुछ चीनी क़ैदी जो मुसलमानों के हाथ लगे वह कागज़ बनाना जानते थे. समरक़ंद में उनसे काग़ज़ बनवाया गया. इसके बाद ७९५ ई० में हाथ से निर्मित काग़ज़ का उद्योग बग़दाद में स्थापित हुआ. यद्यपि मशीन के जरिये काग़ज़ बनाने का काम पहली बार १७५० ई० में हॉलैंड में हुआ. मुसलसल रोल की शक्ल में कागज़ बनाने का उद्योग १७९८ ई० में फ्रांस में शुरू हुआ. इसी तरह प्रिंटिगं प्रेस पहली बार चीनियों ने ७७० ई० में बनाया था. यह इब्ने मक़ला (८८५-९४० ई०) के जन्म से ११५ साल पहले का ज़माना था. छपाई का प्राचीनतम नमूना इससे भी पहले पांचवीं सदी ईसवी के चीन में खोजा गया. यूरोप में विकसित प्रिंटिंग प्रेस १५वीं सदी में गोटिन बर्ग ने बनाया और बाइबिल छापी. जबकि मुस्लिम दुनिया में प्रिंटिंग प्रेस नपोलियन के ज़रिये १७९८ ई० में पहली बार मिस्र पहुंचा.

इब्ने मक़ला जो न सिर्फ़ हस्तलिपि का विशेषज्ञ था बल्कि आश्चर्यजनक रचनात्मक प्रतिभा का मालिक था. अगर वह अपनी ईश्वरीय देन प्रतिभा को अपने मैदान में लगाता तो काग़ज़ और छपाई और इस तरह की दूसरी नेमतें जो इस्लामी दुनिया को बहुत बाद में मिलीं शायद इब्ने मक़ला के ज़माने में ही मिल जातीं. मगर वह इस पर गंभीतापूर्वक जमा न रह सका कि ख़ुद को अपने ख़ास कला छेत्र में सीमित कर सके. मंत्री के पद को वह काग़ज़, छपाई और हस्तलिपि के विकास में इस्तेमाल कर सकता था. इसके विपरीत उसने अपने पदों को इ़ज़्ज़त और शोहरत की तरफ़ छलांग लगाने के लिये इस्तेमाल किया. इब्ने मक़ला जब मंत्री के ओहदे पर पहुंच गया उसके कलात्मक हौसले अब राजनीतिक महत्वाकांक्षा में बदल गये. ख़ामोश रचनात्मक कामों में व्यस्त रहने के बजाये वह राजनीति और फ़ौजी आंदोलनो का लीडर बन गया. उसने यह योजना बनाई कि ख़लीफ़ा क़ाहिर बिल्लाह को तख़्त से उतारकर अबु अहमद बिन मक़तफ़ी को अब्बासी सल्तनत का हुक्मरान बनाया जाये.

राज़ खुल गया. इब्ने मक़ला पर यह इलज़ाम लगा कि उसने फ़ौजी सरदार मूनिस ख़ादिम के साथ मिलकर क़ाहिर बिल्लाह की हुकूमत को ख़त्म करने की साज़िश की थी. साज़िश का रहस्य खुलने पर इब्ने मक़ला का घर जलवा दिया

गया. अबु अहमद बिन मक़्तफ़ी को दीवार में चुनवा दिया गया. यद्यपि इब्ने मक़ला की ज़हानत (विवेकशीलता) उसके काम आई, वह फ़रार होकर बच गया मगर उसकी राजनीतिक महत्वकांक्षाओं ने दुबारा उसके लिये मसले पैदा किये. यहां तक कि राज़ी बिल्लाह ने उससे मंत्री का पद छीन कर उसी के घर में उसे नजरबंद कर दिया और उसका दायां हाथ कटवा दिया. बेशक यह एक सख़्त तरीन सज़ा थी, जो किसी कलाकार को दी जा सकती थी. घर की क़ैद में जो अश्आर वह पढ़ा करता था उसमें से एक शेर का अर्थ है: 'दायां हाथ कट जाने के बाद ज़िंदगी में कोई लुत्फ़ नहीं, ऐ मेरी ज़िंदगी जब मेरा दायां हाथ मुझसे जुदा हो गया तो तू भी जुदा हो जा.'

इब्ने मक़ला की असाधारण प्रतिभा का अंदाज़ा इससे किया जा सकता है कि जब उसका दायां हाथ कट गया तो उसने बायें हाथ से लिखने का अभ्यास किया. यहां तक कि बायें हाथ से भी वह उतना ही अच्छा लिखने लगा. फिर उसने अपने कटे हुए हाथ में एक कलम बांधा और उससे लिखने लगा. कहा जाता है कि हाथ कटने के पहले की लिपि और बाद की लिपि (लिखावट) में कोई अंतर नहीं कर सकता था. यह बाकमाल इंसान अपने घर के क़ैदख़ाने में ५६ साल की उम्र तक क़ैद रहा.

इब्ने मक़ला शायर भी था. उसने अपने कटे हुए हाथ के मातम में बहुत शेर कहे., वह कहता था: 'वह हाथ जिसने क़ुरआन के फलां-फलां नुस्ख़े लिखे, जिसने रसूलुल्लाह सलअम की फलां-फलां हदीसें लिखीं, जिसने पूरब और पश्चिम में हुक्म लिख कर भेजा वह चोरों के हाथ की तरह काट दिया गया.'

अतीत के इब्ने मक़ला को इतिहास क्षमा कर सकता है. मगर हाल के 'इब्ने मक़ला', जो अपने ओहदों और पदो को रचनात्मक संघर्ष में नहीं लगाते बल्कि विज्ञापन बाज़ी वाली व्यक्तिगत महत्वकांक्षाओं में अपने बहुमूल्य अवसर बर्बाद करते हैं. उनके पास दूसरी बार इस भयानक ग़लती में मुबतला होने की क्या सफ़ाई है. क्या उन्हें याद नहीं कि मोमिन की तारीफ़ यह दी गई है कि वह एक 'बिल' (सांपों के बिल) से दो बार नहीं डंसा जाता.

यह एक हक़ीक़त है कि अच्छी प्रतिभाएं हमेशा राजनीतिक महत्वकांक्षाओं में बर्बाद हुई हैं. राजनीतिबाजी के काम में आमतौर पर वही लोग हिस्सा लेते हैं, जो प्रकृति से सर्वोत्तम प्रतिभा लेकर पैदा होते हैं. वे अपनी प्रतिभा को किसी रचनात्मक सेवा में लगाने के बजाये सियासी हुक्मरानों को सत्ता से बेदख़ल करने की कोशिश में लग जाते हैं. इसके नतीजे में बेशुमार इंसानी जानें बर्बाद होती हैं. अनगिनत आर्थिक साधन बर्बाद होते हैं. जबकि व्यवहारिक रूप से ऐसे लोगों

को सस्ती लोकप्रियता के अलावा कुछ प्राप्त नहीं होता. अगर ऐसा व्यक्ति ज़रा संभल भी ले तो अवाम की नज़रों को एक ज़ालिम की जगह दूसरा ज़ालिम कुर्सी या तख़्त पर बैठा दिखाई देता है. इतिहास में कोई मिसाल ऐसी नहीं है कि मुक़ाबले की सियासत से कभी कोई वास्तविक नतीजा बरामद हुआ हो. क़ौम को उठाने का राज़ यह है कि क़ौम के रहनुमा अपने राजनीतिक झंडे को नीचा करलें. व्यक्तिगत हौसलों का 'बीज' जहां ज़मीन में दफ़न होता है, वहीं से क़ौमी भविष्य या राष्ट्रीय मुस्तक़बिल का शान्दार 'वृक्ष' उगता है. आज हमारे इतिहास को इसी प्रकार की 'शहादत' का इंतज़ार है.

राजनीति के साथ मज़हबी ख़िदमत संभव नहीं

उत्तरी नाइजेरिया की ६५ मीलियन आबादी में आधे से ज़्यादा मुसलमान हैं. सिर्फ़ दो सौ बरस पहले की बात है उत्तरी नाइजेरिया के सुल्तान बीवा ने रियासत के उलेमा को अपने दरबार में बुलाया और उनको तोहफ़े दिये. आने वालों में एक बुज़ुर्ग ने तोहफ़ा क़ुबूल नहीं किया. यह उसमान दान फादियो (१७५४-१८१७) थे. उन्होंने कहा – 'मैं आपका तोहफ़ा उस वक़्त लूंगा जब कि आप मुझको इस्लाम की तबलीग़ का परवाना अता फ़रमाएं.' सुल्तान ने फ़ौरन उनकी मांग पूरी की. उसमान दान फोदियो ने उसके बाद तबलीग़ और दावत का काम शुरू किया. उनकी कोशिशों से नाइजेरिया के बहुत से नागरिक मुसलमान हो गये.

फिर भी यह सिलसिला देर तक क़ायम न रह सका. उसमान दान फोदियो ने बाद में सुल्तान के सामने राजनीतिक मांगे रखना शुरू की. 'तमाम राजनीतिक क़ैदियों को रिहा करो, कर का दाम कम करो आदि...'

इस तरह की मांगों ने हुक्मरानों को ख़फ़ा कर दिया. सुल्तान बीवा किसी तरह उनको बर्दाश्त करता रहा. उसके मरने के बाद उसका लड़का सुल्तान नफ़ाता तख़्त पर बैठा. उसने न सिर्फ़ उसमान दान फोदियो की राजनीतिक मांगों को रद्द किया बल्कि उनकी तबलीग़ी गतिविधियों पर भी पाबंदी लगा दी. तब उसमान और उनके साथी सुल्तान के राजनीतिक विरोधी बन कर खड़े हो गये. १८०९ ई० में इस आपसी युद्ध का सिलसिला शुरू हुआ जो उसमान दान फोदियो की मौत (१८१७) तक नाकाम तौर पर जारी रहा. अहमद वबलू उन्हीं उसमान दान फोदियो के पोते थे, जिन्हें अपने बाप से तब्लीग़ी जज़्बा और राजनीतिक जिहाद की भावना विरासत में मिली थी. अजीब बात है कि अहमद वबलू ने अपने दादा के अंजाम से कोई सबक़ नहीं सीखा और उसी अनुभव को फिर दुहराया जो उनके दादा के ज़माने में नाकाम हो चुका था.

'मेरी कोशिशों के कारण दिसंबर १९६३ से मार्च १९६५ तक तक़रीबन दो

लाख (१८६९३०) मुश्रिकों ने इस्लाम क़ुबूल किया. उनमें से बहुत से ऐसे लोग भी हैं जो समाजी ज़िंदगी में नुमायां मुक़ाम रखते हैं.' यह शब्द नाइजेरिया के भूतपूर्व प्रधानमंत्री अहमद वबलू (१९०१-१९६६) के शब्द हैं जो उन्होंने (१३८४ हि०) में १९६४ में क़ाहिरा के इस्लामी कन्वेंशन में भाषण करते हुए कहे थे. उन्होंने कहा कि अफ़्रीक़ा को तक़रीबन २२ करोड़ आबादी में दस करोड़ ८० लाख मुसलमान हैं. 'अगर मुस्लिम देशों की मदद मिल जाये तो अफ़्रिक़ा के मुश्रिक क़बीलों में तेज़ी से इस्लाम फैल सकता है और इसका प्रमाण ख़ुद मेरी वह कामयाबियाँ हैं जिनका मैंने अभी हवाला दिया.'

अहमद वबलू को इस्लाम की ख़िदमत का यह जज़्बा अपने दादा उसमान दान फोडियो से मिला था. १९वहीं सदी में जब पुर्तगाल, फ्रांस और बरतानिया ने अफ़्रीक़ी इलाक़ों में घुसना शुरू किया तो अफ़्रीक़ा में उसकी प्रतिक्रिया के तहत बहुत से हथियार बंद लोग उठ खड़े हुए. उन्हीं में से एक उसमान दान फोडियो भी थे. उन्होंने पिछली सदी में मुसलमानों में सुधार के लिये परमाणु शक्तियो के ख़िलाफ़ ज़बर्दस्त आंदोलत चलाया. इस आंदोलन को जिहाद आंदोलन के नाम से जाना जाता है. दरिया-ए-नाइजेरिया के किनारे-किनारे दूर तक उन्होंने इस्लाम का झंडा लहरा दिया. १८३३ में उनके निधन के बाद उनके उत्तराधिकारियों ने यह मुहिम जारी रखी. नाइजेरिया की राजधानी लागौस से लेकर उत्तर में लकोसो नहर तक मुक़ाबले जारी थे. हालांकि आख़िरी फ़ैसला अंग्रेजों के हक़ में हुआ. उन्होंने १८८६ में सुल्तान मुहम्मद ताहिर और उनके साथियों को पराजित कर उनके देश पर क़ब्ज़ा कर लिया.

अहमद वबलू उन्हीं परंपराओं के बीच वर्त्तमान सदी के प्रारंभ की पैदावार थे. उनके बाप सुकोतो फोदियो बिन उसमान वान फोदियो कबीले के अमीर थे अभी वह दस वर्ष के ही थे कि पिता का निधन हो गया. उनकी मां एक दीनदार ख़ातून थीं. प्राचीन रिवाज के मुताबिक़ पहले उन्हें क़ुरआन हिफ़्ज़ (याद) कराया गया. उसके बाद उन्होंने अरबी मदरसे में दाख़िला लिया और २१ साल की उम्र तक दीनी तालीम से फ़ुर्सत पा ली. १९२६ में पंश्चिमी शिक्षा के लिये कास्तीना कालिज में दाख़िल हुए तथा अंग्रेजी भाषा और गणित की शिक्षा पूरी की. ख़ानदानी विरासत के तहत उन्हें सुकोतो क़बीले का अमीर बनाया गया. १९३४ में सुल्तान हसन ने उनको रिबाह शहर का गवर्नर नियुक्त किया.

१९३८ में जब सुल्तान हसन की मौत हुई तो नये सुल्तान अबु बकर ने अहमद वबलू को सुकोतो प्रदेश के 'सारदोना' पद पर नियुक्त किया. १९४८ में वे लंदन की यात्रा पर गये और आज़ादी के मसले पर हुकूमत-ए-बरतानिया से बातचीत की.

१९६३ की जनगणना के मुताबिक़ नाइजेरिया में ३६ मीलियन (३ करोड़

६० लाख) मुसलमान हैं. ईसाई १९ मीलियन और दूसरी जाति के क़बीले बाले १० मीलियन. उत्तरी नाइजेरिया के इलाक़े में ज़्यादा तर मुसलमान ही आबाद हैं और दक्षिण नाइजेरिया में ज़्यादातर ईसाई. अहमद वबलू उत्तरी नाइजेरिया के लीडर थे. वह पश्चिमवाद के ख़िलाफ़ हमेशा आगे-आगे रहे. १९६० में नाइजेरिया आज़ाद हुआ तो वहां एक संघीय सरकार बनी. उस हुकूमत के संघीय प्रधानमंत्री सर अबु बकर तफ़ा वाब्ल्यो (१९१२-१९६६) थे. अहमद वबलू उत्तरी नाइजेरिया के प्रधान मंत्री नियुक्त हुए. यह एक मिली जुली सरकार थी. जिसमें विभिन्न पार्टियों के नुमाइन्दे शामिल थे. अहमद वबलू ने मुसलमानों के सुधार और ईसाइयों में इस्लामी प्रचार का काम पूरी गंभीरता से शुरू किया. नतीजा अच्छा निकला मगर वे ज़्यादा काम न कर सके. १५ जनवरी, १९६६ को २५ फ़ौजी अफ़सरों नें मिलकर बग़ावत कर दी. इस बग़ावत में अबु बकर तफ़ा वाब्ल्यो, अहमद वबलू और बहुत से मुसलमानों के साथ ईसाई भी मारे गए. इसके बाद नाइजेरिया में फ़ौजी हुकूमत क़ायम हुई. जिसके नेता जनरल अरविन्सी थे. मगर उन्हें भी सिर्फ़ छह महीने ही हुकूमत करने का मौक़ा मिला. २९ जूलाई १९६६ को दूसरी फौजी बग़ावत हुई जिसमें उन्हें भी मौत के घाट उतार दिया गया.

नाइजेरिया दो मसले प्रमुख हैं. मुसलमोनों की संख्या ७० प्रतिशत है. मगर शिक्षा, अर्थ और सांगठनिक मामलों में पिछड़े होने के कारण व्यवहारिक रूप से ईसाठ ही हर विभाग में छाये हुए हैं. ज़रूरत है कि उन्हें शिक्षा और अर्थ के मामले में ऊंचा उठाया जाये, ताकि वे मुल्क में अपना जायज़ मुक़ाम पा सकें.

दूसरा काम यहां के ईसाइयों और १० मीलियन (१ करोड़) साझे क़बीलों में इस्लाम का प्रसार हो. यह दोनों काम अहमद वबलू ने शुरू कर दिया था. मगर उनकी शहादत से जो सबक़ मिलता है वह यह है कि रचनात्मकता व तबलीग़ का काम राजनीति को साथ लेकर नहीं किया जा सकता. अहमद वबलू अगर सियासत से अलग होकर यह काम कर रहे होते तो वह २०-२५ वर्षे में नाइजेरिया का इतिहास बदल देते. मगर राजनीति के कांटेदार माहौल ने उन्हें भी ख़त्म कर दिया और उनके सामुदायिक और इस्लामी काम को भी रोक दिया.

राजनीतिक लोभ के बजाये राजनीतिक संतोष

कोई मर्द औरत अपनी औलाद को स्वीकार करने से इन्कार नहीं कर सकते. सही राजनीति का मामला भी है. किसी के लिये संभव नहीं कि वह अपने पैदा किये हुए राजनीतिक हालात के तार्किक नतीजों से इन्कार कर दे. ऐसी हर कोशिश हमेशा उलटी पड़ती है और सिर्फ़ वंचित करने में वृद्धि का कारण बनती है. इसे पाकिस्तान की मिसाल से समझिये.

पाकिस्तान विभाजन के नारे पर बना. मुसलमानों की तरफ़ से 'सीधे ऐक्शन' की नौबत आ जाने के बाद अंतत: यह आंदोलन कामयाब हुआ और दूसरे पक्ष ने इस माँग को मान लिया कि आबादी की बुनियाद पर मुल्क को तक़सीम कर दिया जाए. मगर १९४६ में जब विभाजन की सरहदें तय करने का वक़्त आया तो पाक्स्तानी लीडरों को नज़र आया कि विभाजन के उसूल के मुताबिक 'जूनागढ़' और 'हैदराबाद' जैसी मुस्लिम रियासतें उनके हाथ से निकल रही हैं. अब उन्होंने कोशिश की कि ऐसी रियासतो के मामले में विलयन के सिद्धांत को भ्रम में बांधकर रखा जाये. वह समझते थे कि इस तरह वह बयक वक़्त कश्मीर पर भी क़ब्जा कर लेंगे और हैदराबाद पर भी. कश्मीर को इस तर्क पर कि वहां की आबादी में मुसलमानों की संख्या बहुत है. हैदराबाद को इस लिये कि वहां का हुकमरान मुसलमान है. मगर यह खुद अपने द्वारा पैदा किये हुए हालात के तार्किक नतीजों से इन्कार करने जैसा था. चुनांचे इसका अंजाम उल्टा हुआ. दो ख़रगोशों के पीछे दौड़ने की कोशिश में पाकिस्तान एक को भी न पकड़ सका.

पाकिस्तान बना तो वह दो ऐसे अलग-अलग हिस्सों पर आधरित था, जिनमें से एक पूर्वी हिस्सा स्पष्ट तौर पर दूसरे के मुक़ाबले में संख्या के आधार पर बहुसंख्यक था. बंगाली नेता हुसैन शहीद सहरवरदी की कोशिशों से पाकिस्तान के पूर्व दोनों हिस्सों में राजनीतिक समता (Parity) क़ायम हो गई. राष्ट्रपति अययूब खां की बुनियादी जम्हूरियत में यह समता एक मुस्लिम राजनीतिक उसूल के तौर पर बाक़ी रही. इसी के मुताबिक़ पूर्वी हिस्से के ४० और पश्चिमी हिस्से के ४० हजार नुमाइंदे वोटर मुल्क की हुकूमत का फैसला करते थे. मगर पाकिस्तान के रहनुमा इस व्यवस्था के खिलाफ़ हो गए उन्हें राष्ट्रपति अय्यूब को रास्ते से हटाना था और इसकी सबसे आसान तदबीर यह थी कि अवाम को यह कह कर उनके ख़िलाफ़ भड़का दिया जाए कि बुनियादी जमहूरियत क़ायम करके उन्होंने अवाम के राजनीतिक अधिकारों को ग़सब (दबा) कर रखा है. अब पाकिस्तान में जम्हूरियत आंदोलन चलाया गया. बेपनाह नुक़सान के बाद अंतत: आंदोलन कामयाब हुआ. राष्ट्रपति अय्यूब और उनकी बुनियादी जम्हूरियत दोनों का ख़ात्मा हो गया.

१९७० में पाकिस्तान का पहला आम चुनाव हुआ, जिसमें हर बालिग़ (व्यस्क) को वोट देने का अधिकार हासिल था. पूर्वी पाकिस्तान (बंगलादेश) की आबादी चुंकि ज़्यादा थी, उसके प्रतिनिधियों की संख्या केंद्रीय संसद में ज़्यादा हो गई, जो ५५ प्रतिशत थी. समता या बराबरी ख़त्म हो गई और बंगलादेश ने पाकिस्तान पर राजनीतिक वर्चस्व प्राप्त कर लिया.

अब पाकिस्तान के रहनुमा चीख़ उठे. उन्होंने जम्हूरियत के विवाद को यह समझ कर उठाया था कि वह खुद उन्हें सत्ता तक पहुंचाने की सीढ़ी बनेगी, न

कि इस लिये कि बंगलादेश के सेकुलर लीडर इसको इस्तेमाल करके पाकिस्तान की सत्ता पर क़ाबिज़ हो जाएंगे. उन्होंने चाहा कि जम्हूरियत को दुबारा 'प्रतिबंधित लोकतंत्र' के रूप में लागू करें और पूर्वी और पश्चिमी हिस्से में बराबरी के प्रतिनिधित्व का उसूल क़ायम करें, जैसा कि पहले क़ायम था. मगर अवामी जम्हूरियत को ज़िंदा करने के बाद इस तरह की कोशिश ख़ुद के पैदा किये हुए हालात से भागने की तरह था. बंगलादेश अवामी मतदान के तहत मिली हुई राजनीतिक वर्चस्व शक्ति को छोड़ नहीं सकता था. जम्हूरी तर्क के तहत जन्मे नतीजों ने नये मसले खड़े किये. दोनों हिस्सों में कश्मकश बढ़ती चली गयी. यहां तक कि पाकिस्तान दो टुकड़े हो गया.

१९७८ में यह अनुभव एक नयी शक्ल में दुहराया गया. पाकिस्तान के दूसरे आम चुनाव (१९७७) में भुट्टो पार्टी को कामयाबी हासिल हुई. विपक्ष के लिये यह राजनीतिक महरूमी असह्य थी. उसने चुनाव के नतीजों को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया. उसने नारा लगाया कि भुट्टो पार्टी धांधली से चुनाव जीती है. वरना पाकिस्तानी अवाम की ७७ प्रतिशत अकसरियत हमारे साथ है. उन्होंने 'दुबारा चुनाव कराओ' के नाम पर पाकिस्तानी शहरों में हंगामा शुरू कर दिया. इस स्थिति का फ़ायदा उठाकर फ़ौजी अफ़्सरों ने बग़ावत कर दी और हुकूमत पर क़ब्ज़ा कर लिया. अवाम को इत्मिनान दिलाने के लिए फ़ौजी लीडर जनरल मुहम्मद ज़ियाउल हक़ ने ऐलान कर दिया कि वह सिर्फ़ रेफ़री के तौर पर संसद में दाख़िल हुए हैं और बहुत जल्द साफ़ सुथरा चुनाव कराया जायेगा.

पाकिस्तान राष्ट्रीय एकता के लीडर ख़ुश हो गये और १९७७ को 'यौमुलफ़तह' (जनता की विजय) क़रार दिया मगर भुट्टो पार्टी के जलसों में अवामी भीड़ ने बताया कि भुट्टो के सत्ता से हटाये जाने के बावजूद अवाम आज भी उसी के साथ है और यदि चुनाव हुआ तो भुट्टो पार्टी ही दुबारा सत्ता में आयेगी. जिस जम्हूरियत को लाने के लिये पाकिस्तानी रहनुमाओं ने चौथाई सदी ख़र्च कर दी थी वह जब आई तो मालूम हुआ कि वह सारी की सारी भुट्टो जैसे लोगों के क़ब्जे में चली गई. उनको महसूस हुआ कि मसला सिर्फ़ जम्हूरी या लोकतांत्रिक चुनाव का नहीं है बल्कि चुनावी मसलों की मुसीबत और उनसे संभावित भयानक नतीजों का भी है. अब उन्होंने अपने नारे बदल दिये. उन्होंने कहना शुरू किया कि – 'जम्हूरियत को जला डालो, लोगों की आज़ादियां छीन लो. 'उमर' का कोड़ा हरकत में लाओ.' (फ़ैसलआबाद के मिम्बर से – ३, अक्तूबर १९७८). यही पाकिस्तान के तमाम भुट्टो विरोधी रहनुमाओं की मानसिकता है. कोई इस बात को दूसरे शब्दों में कह रहा है, कोई ख़ूबसूरत शब्दों में. मगर स्पष्ट है कि इस तरह की राजनीति खुद अपने पैदा किये हुए हालात के नतीजों को कुबूल न करने का परिणाम है.

जब पाकिस्तान में अवामी जम्हूरियत को ज़िन्दा किया गया है तो अब यह संभव नहीं कि उसके तार्किक नतीजे बरामद होने से रोके जा सकें. पाकिस्तानी नेताओं की यह राजनीति बेशक उनके लिये बहुत महंगी पड़ेगी. 'निज़ाम-ए-मुस्तुफा' और 'नज़रिया-ए-पाकिस्तान' जैसे शब्द बोल कर इस सैलाब को रोका नहीं जा सकता.

इस तरह की ग़लती बार-बार क्यों होती है. इसका कारण राजनीतिक द्वेष और राजनीतिक लोभ है. हमारे रहनुमा सिर्फ़ इतने पर संतोष करने के लिये तैयार नहीं हैं, जो वास्तविक हालात के ऐतिबार से उन्हें मिल सकता है. उनकी इस कमज़ोरी ने उन्हें अयथार्थवादी बना दिया है. वे ऐसे क़दम उठाते हैं, जिन्हें निभाने की ताक़त उनमें नहीं होती. इस्लामी शिक्षा के मुताबिक़ अगर वह लोभ के बजाये संतोष का तरीक़ा अपनाएं तो वह ज़्यादा बड़ी और वास्तविक कामयाबी हासिल करें और क़ौम को भी नये-नये मसलों में फंसाने से बच जाएं (२३,अक्तूबर १९७८).

इतिहास का एक सबक़

तुर्की पूरब और पश्चिम का संगम है. इस लिये पश्चिमी सभ्यता से टकराव का मसला सबसे पहले यहीं पेश आया. मगर उसके जवाब में क्या हुआ. एक तरफ़ प्राचीन उलेमा का गिरोह था जो पश्चिम की तरफ़ से आने वाली हर चीज़ का उतना बड़ा विरोधी था कि सुल्तान सलीम सालिस (१७८९-१८०७) और उसके उत्तराधिकारी सुल्तान महमूद (१८०८-१८३९) के नये फ़ौजी संगठन और उन आधुनिक संशोधनों तक का विरोध किया जो उन्होंने तुर्की को रक्षा और शिक्षा के लिहाज़ से उभरती हुई युरोपीय शक्तियों के काँधे के बराबर ले चलने के लिये लागू किये थे.

दूसरी तरफ़ तुर्की की वह नयी नस्ल थी जो पेरिस, बर्लिन और लंदन के विश्वविद्यालियों में शिक्षा लेकर आई थी, वह तुर्की को पश्चिमी रंग में रंग देना चाहती थी. उनकी उग्र भावना की स्थिति यह थी कि उन्होंने पश्चिमी अनुकरण लागू करने के लिये एक पूरा दर्शन गढ़ डाला. ज़िया गौक अलिप ने कहा: 'पश्चिमी सभ्यता दरअसल रोम की सभ्यता का विस्तार है. उस तहज़ीब (जिसे हम संपूर्ण तामन महाद्वीप के दर्शन की सभ्यता कहते हैं) के संस्थापक समारी, सेथी, फ़नीक़ी, रिआथ सब तुर्की नस्ल से संबंध रखते थे.

इतिहास में पुराने ज़मानों से पहले एक 'तूरानी काल' का अस्तित्व मिलता है. इस लिये कि मध्य एशिया के प्राचीन निवासी हमारे पूर्वज थे. इसके बाद मुसलमान तुर्कों ने इस तहज़ीब का विकास किया और इसे युरोप तक पहुंचाया, फिर पश्चिमी और पूर्वी सल्तनत रूमा के ख़ात्में के बाद तुर्कों ने युरोप के इतिहास में इन्क़लाब पैदा किया और इसी बुनियाद पर हम पश्चिमी सभ्यता का अंश हैं और हमारा

इसमें हिस्सा हैं.'

उनकी चिंतनधारा यह थी कि वह अपने दिमाग़ से काम लेकर अपने को पश्चिम की ऊंची और प्रकाशमान तहज़ीब में गाड़ लें (इरफ़ान ओरगा, अतातुर्क –२९७). कमाल अतातुर्क (१८८१-१९३८) जब १९२४ में तुर्की लोकतंत्र के पहले राष्ट्रपति नियुक्त हुए तो उनके नज़दीक जो सबसे महत्वपूर्ण काम था वह यह कि तुर्कों को पश्चिम का लिबास पहना दें. उन्होंने पर्दे को क़ानून विरोधी क़रार दिया. अरबी अक्षर की जगह लातीनी अक्षर जारी किया. अरबी में 'आज़ान' पर प्रतिबंध लग गया. हैट का इस्तेमाल आवश्यक क़रार दे दिया गया. यहां तक कि जब एक रक्त क्रांति के बाद हैट की जंग जीत ली गई तो मुस्तुफ़ा कमाल अतातुर्क ने मक्का की इस्लामी कान्फ्रेंस (१९२७) में शिरकत के लिये तुर्क संसद के एक सदस्य अदीब सरवत को भी हैट पहनाकर रवाना किया, जो इस्लामी कांफ्रेंस में सबसे अलग नज़र आए.

यही मिसाल हर मुस्लिम देश में पेश आई है. उनमें डिग्री का फ़र्क़ तो हो सकता है, मगर परिप्रेक्ष्य का कोई अंतर नहीं. हर जगह यही हुआ कि प्राचीन मज़हबी तबक़े ने पश्चिम से नफ़रत और अलगाव में जिंदगी का राज़ बताया और आधुनिकतम शिक्षित वर्ग ने पश्चिम के अनुकरण से यह उम्मीद की कि वह दुबारा इस से ऊंचाइयों पर पहुंच जायेंगे. मगर यह मिसाल कहीं नज़र नहीं आती कि कुछ लोग शिद्दत से इस पहलू की तरफ़ क़ौम को आकृष्ट कर रहे हों कि शक्ति के इस राज़ को मालूम करो जिससे हथियारबद्ध होकर पश्चिम तुम्हारे और पूरी दुनिया पर छाता चला जा रहा है.

तुर्की का यह इतिहास एक समृद्ध उदाहरण है, जो बताता है कि मौजूदा ज़माने में मुस्लिम देश किस तरह हालात का अंदाज़ा करने में नाकाम रहे हैं और कभी भी समय के अनुसार अपने काम की योजनाएं न बना सके. इसी के साथ तुर्की के इतिहास में दो और प्रतिकात्मक उदाहरण भी हैं. मिल्ली कार्यो के लिये जानदार कार्यकर्ताओं का अभाव और बिना तैयारी के क़दम उठाना.

आधुनिक तुर्की में दो व्यक्तित्व ज्ञानी और चिंतक की हैसियत से बहुत ही स्पष्ट और उभरे हुए नज़र आते हैं. एक नामिक कमाल (१८४०-१८८८) दूसरे ज़िया ग़ौक अलिप (१८७५-१९२४). दोनों ने ऊंची शिक्षा प्राप्त की. दोनों तुर्की के अलावा अरबी और फ्रेंच भाषाएं जानते थे. उन्नीसवीं सदी की मुस्लिम दुनिया की दूसरी तमाम शख़्सियतों की तरह हालांकि यह दोनों ही राजनीति से प्रभावी थे और राजनीतिक इन्क़लाब को सबसे बड़ा काम समझते थे. लेकिन दोनों में यह फ़र्क़ था कि नामिक कमाल तटस्थ और संतुलित चिंतनधारा के आदमी थे, व्यवहारिक राजनीति से प्रभावित होने के बावजूद इस्लामी उसूलों के अनुसार सोचते

थे और 'तुर्क एकता' के बजाये 'इस्लामी एकता' के शब्द बोलते थे. उसपर यह कि नामिक कमाल को नयी नस्ल में प्रसिद्धी और लोकप्रियता भी मिली. ख़ालिदा अदीब ख़ानम ने उनके बारे में लिखा है: 'नामिक कमाल आधुनिक तुर्की के लोकप्रिय व्यक्ति थे. तुर्की की चिंतनधारा और राजनीति के इतिहास में उनसे ज़्यादा किसी दूसरे व्यक्ति की पूजा नहीं की गई.' (Halde Edib, Turkey Faces West, P-84).

दूसरी तरफ़ ज़िया ग़ौक अलिप एक आज़ाद ख़याल व्यक्ति थे. उनकी चिंतन धारा में इस्लामी बुनियादी तत्व की हैसियत नहीं रखता था. उसने निमंत्रण दिया था कि तुर्की का नवनिर्माण ख़ालिस राष्ट्रीय और भौतिक आधारों पर किया जाये. वह इस्लामी तहज़ीब के बजाये पश्चिमी तहज़ीब का पुरजोश झंडाबरदार था.

तुर्की के बाद के इतिहास में कहा गया है कि यहां – 'रामिक कमाल जैसे लोगों को तुर्की में वर्चस्व नहीं मिला. बल्कि ज़िया ग़ौक अलिप जैसे लोग व्यवहारिक रूप से देश की राजनीति और वहां वे नेतृत्व पर छा गए. दूसरी कम से कम एक बड़ी वजह यह थी कि ज़िया ग़ौक अलिप की चितंनधारा की असली जामा पहनाने में लिये कमाल अतातुर्क (१८८१-१९२४) जैसा ताक़तवर और मज़बूत इरादे का आदमी मिल गया था.

इसके अलावा एक वजह और भी है कि नामिक कमाल ने अगरचे अपनी क़ौम के एक तबक़े में लोकप्रियता हासिल की, लेकिन अपने लिखित साहित्य में वह जिन विचारों को पैदा कर रहे थे वह चाहे पारंपरिक लोगों के लिये जितनी दिलचस्पी का कारण हो, नयी चिंतनधारा के आलमी सैलाब में उसकी हैसियत एक रूमानी ख़्वाब की थी. उसूली तौर पर बेशक यह दुरुस्त है कि इस्लाम को बुनियादी तौर पर संगठनिक प्रबंधों का आधार होना चाहिये. मगर एक ऐसी दुनिया में जहां व्यवहारिक तौर पर सेकुलर चिंतन धारा का वर्चस्व हो, कोई व्यक्ति अपना पृथक द्वीप नहीं बना सकता. यह तभी संभव है, जब कि साधारण और अवामी चिंतरधारा को उसके अनुकूल बना लिया जाये.

ख़ुदा की योजना में ख़ुद को शामिल करने का नाम : संघर्ष

हिंदुस्तान में पश्चिमी क़ौमों के लिये दाख़िले का रास्ता सबसे पहले वास्कोडिगामा (१४६०-१५२४) ने पैदा किया. उसके बाद पुर्तगाली और फ्रांसीसी क़ौमें इस देश के तटवर्तीय क्षेत्रों में दाख़िल हुई. आख़िर में अंग्रेज़ आए और डेढ़ सौ बरस के अंदर उन्होंने पूरे उपमहाद्वीप पर क़ब्ज़ा कर लिया. हिन्दुस्तान, पाकिस्तान, बंगलादेश, श्रीलंका, बर्मा, तिब्बत, नेपाल सब अंग्रेज के झंडे के नीचे आ गये. हिन्दुस्तान पर अपने क़ब्ज़े को स्थिर बनाने के लिये उन्होंने स्विज़ नहर

पर क़ब्जा किया, और उसके बेहतर हिस्से महंगी क़ीमत पर ख़रीद लिये.

अंग्रेजों ने न सिर्फ़ हिन्दुस्तान की राजनीति और आदमी पर क़ब्जा किया बल्कि यहां की सरकारी भाषा बदल दी. शिक्षा व्यवस्था ऐसी बनाई जिससे ऐसी नस्ल पैदा हो जो लॉर्ड मैकाले के शब्दों में 'पैदाइशी तौर पर हिन्दुस्तानी और वैचारिक ऐतिबार से अंग्रेज़ हों.' ईसाई मिश्नरियों ने हुकूमत की मदद से फ़ायदा उठाकर पूरे मुल्क को ईसाई बनाने का काम शुरू कर दिया. इस तरह ऐसी हूकूमत, जो इतनी ज़्यादा व्यापक थी कि उसकी 'सल्तनत में सूरज डूबता नहीं था.' अपने तमाम साधनों और सांस्कृतिक शक्ति के साथ मुल्क पर छा गई और अपनी सत्ता को स्थायी बनाने के लिये वह सब कुछ किया जो इस भौतिक और विकसित दुनिया में कोई कर सकता है.

मगर अगस्त १९४७ का इन्क़लाब बताता है कि बात वहीं ख़त्म नहीं हो जाती जहां कोई अपने तौर पर उसे ख़त्म समझ लेता है. कोई क़ौम चाहे जितने बड़े पैमाने पर दूसरी क़ौम के ऊपर वर्चस्व प्राप्त कर ले. फिर भी कुछ ऐसे गोशे बाक़ी रहते हैं, जहां से संघर्ष करके दबी हुई क़ौम दुबारा नयी ज़िंदगी हासिल कर ले. फिर इसी इन्क़लाब के इतिहास से पता चलता है कि यह काम महज झुंझलाहट के साथ टकराने से संभव नहीं था. इसके लिये ज़रूरत रही है कि हालात को गहराई के साथ समझा जाये और प्रतिद्वंदी के उस नाज़ुक गोशे को तलाश किया जाये जहां से प्रभावी संघर्ष को प्रारंभ किया जा सकता है – ख़ुदा ने अपनी दुनिया को इस ढंग पर बनाया है कि यहा हर बार गिरने के बाद उसके बंदों के लिये दुबारा उभरने की एक नयी संभावना बाक़ी रहे. मगर यह संभावना उसी के लिये घटना बनती है जो अपने आप को ख़ुदाई योजना के साथ हम आहंग (एकमेक) कर लेने को तैयार हो. जो अपनी ख़ुद की बनाई हुई राहों पर दौड़ना शुरू करदे उसके लिये ख़ुदा की इस दुनिया में स्थायी बर्बादी के सिवा और कुछ नहीं.

घड़ी की सुई बज़ाहिर जहां सबसे ज़्यादा क़रीब नज़र आती है, वह उसका शीशा है. लेकिन घड़ी की सुई घुमाने के लिये कोई शख़्स उसके शीशे पर ज़ोर आज़माई नहीं करता बल्कि उसकी चाभी पर अपना हाथ ले जाता है. मगर कैसी अजीब बात है कि मिल्लत के मसलों को हल करने के लिये हमारे तमाम लीडर 'घड़ी' के शीशे पर ज़ोर आज़माई कर रहे हैं. चाहे इसके नतीजे में ग़लत तरीक़े से शीशा ही क्यों न टूट जाए या कोई दूसरी समस्या क्यों न पैदा हो जाए.

Goodword Books

Islam Rediscovered
Tell Me About the Prophet Muhammad
Tell Me About the Prophet Musa
Tell Me About Hajj
Life Begins: Quran Stories for Little Hearts (PB)
The Ark of Nuh ﷺ: Quran Stories for Little Hearts (HB)
The Ark of Nuh ﷺ: Quran Stories for Little Hearts (PB)
The Origin of Life (Colouring Book)
The Ark of Nuh and the Animals (Colouring Book)
The Ark of Nuh and the Great Flood (Sticker Book)
Arabic-English Dictionary for Advanced Learners (PB)
The Spread of Islam in the World
A Handbook of Muslim Belief
The Muslims in Spain
The Moriscos of Spain
The Story of Islamic Spain
Spanish Islam (A History of the Muslims in Spain)
A Simple Guide to Muslim Prayer
A Simple Guide to Islam
A Simple Guide to Islam's Contribution to Science
The Quran, Bible and Science
Islamic Medicine
Islam and the Divine Comedy
Travels of Ibn Jubayr
The Arabs in History
Decisive Moments in the History of Islam
My Discovery of Islam
Islam At the Crossroads
The Spread of Islam in France
The Islamic Art and Architecture
The Islamic Art of Persia
The Hadith for Beginners
How Greek Science Passed to Arabs
Islamic Thought and its Place in History
One Religion
Muhammad: The Hero As Prophet
A History of Arabian Music
A History of Arabic Literature
The Qur'an for Astronomy
Ever Thought About the Truth?
Crude Understanding of Disbelief
The Miracle in the Ant
The Miracle in the Immune System
Allah is Known Through Reason
The Basic Concepts in the Quran
The Moral Values of the Quran
The Beautiful Commands of Allah
The Beautiful Promises of Allah
The Muslim Prayer Encyclopaedia
After Death, Life!
Living Islam: Treading the Path of Ideal
A Basic Dictionary of Islam
The Muslim Marriage Guide
A Treasury of the Quran
The Quran for All Humanity
The Quran: An Abiding Wonder
The Call of the Qur'an
Muhammad: A Prophet for All Humanity
Words of the Prophet Muhammad
An Islamic Treasury of Virtues
Islam and Peace
Introducing Islam
The Moral Vision
Principles of Islam
Indian Muslims
God Arises
Islam: The Voice of Human Nature
Islam: Creator of the Modern Age
Woman Between Islam and Western Society
Woman in Islamic Shari'ah
Islam As It Is
Religion and Science
Tabligh Movement
The Soul of the Quran
Presenting the Quran
The Wonderful Universe of Allah
The Quran
Selections from the Noble Reading
The Koran
Heart of the Koran
Muhammad: A Mercy to all the Nations
The Sayings of Muhammad
The Life of the Prophet Muhammad
History of the Prophet Muhammad
A-Z Steps to Leadership
The Essential Arabic
Hijab in Islam
The Way to Find God
The Teachings of Islam
The Good Life
The Garden of Paradise
The Fire of Hell
Islam and the Modern Man

1, Nizamuddin West Market, New Delhi-110 013
Tel. 435 5454, 435 6666, 435 1128, Fax: 435 7333, 435 7980
e-mail: info@goodwordbooks.com